आयुर्वेदसूत्र with the commentaries in Sanskrit and Hindi by वैद्यरत्न पं. रामप्रसाद - Revised by आयुर्वेदबृहस्पति पं. कीर्ति शर्मा. 2/e, मुम्बई, 1966. (वेंकटेश्वर प्रेस)

(6)

1 जिल्द

1349



Bill No. 3/07-08

2008-0270

आयुर्वेद सूत्रम्



श्रीवेङ्कटेश्वर प्रेस प्रकाशन

आयुर्वेद सूत्र

(द्वितीय संस्करण)

[केन्द्रीय शुद्ध आयुर्वेद शिक्षा बोर्ड द्वारा आयुर्वेदाचार्य बी. एस. ए. एम. डिग्री की आयुर्वेद प्रवेशिका परीक्षा के पाठ्यक्रम के लिए अनुमोदित पाठ्य पुस्तक]

लेखक

स्वर्गीय वैद्यरत्न **पण्डित रामप्रसादजी शर्मा**

भूतपूर्व डायरैक्टर आयुर्वेद, पैप्सु, पटियाला (पंजाब)

प्रतिसंस्कर्ता

आयुर्वेद बृहस्पति पण्डित कीर्ति शर्मा

एम. ए., शास्त्री, आयुर्वेदाचार्य

प्रिंसिपल – गवर्नमैण्ट आयुर्वैदिक कालिज पटियाला (पंजाब) एवं
सदस्य–केन्द्रीय शुद्ध आयुर्वेदिक शिक्षा बोर्ड, भारत राज्य-स्वास्थ्य मंत्रालय

प्रकाशक :

मेसर्स खेमराज श्रीकृष्णदास
अध्यक्ष : श्रीवेंकटेश्वर प्रेस,
७ वीं खेतवाड़ी, बम्बई ४.

नवम्बर १९६६

मूल्य : [redacted]

मुद्रक :

मेसर्स खेमराज श्रीकृष्णदास, श्रीवेंकटेश्वर प्रेस ७ वीं खेतवाडी, बम्बई ४
के लिये दे० स० शर्मा द्वारा मुद्रित।

प्राक्कथन

द्वितीय संस्करण

"आयुर्वेद सूत्र" वह ग्रन्थ है जिसे आयर्वेदाध्ययन की इच्छा से, अपने पूज्य पिता स्वर्गीय पण्डित रामप्रसादजी वैद्यरत्न, के चरण कमलों में बैठकर, मैंने अध्ययन आरम्भ किया था। आयुर्वेदाध्यंयन के उस प्रथम दिवस से ही मुझे इस ग्रन्थ में बड़ी श्रद्धा तथा आस्था रही है।

राजकीय आयुर्वैदिक महाविद्यालय पटियाला में प्राध्यापक नियुक्त होने के उपरान्त मुझे पूज्य पिताजी ने कहा था कि; इस पुस्तक का संशोधन कर इसके द्वितीय संस्करण के प्रकाशन का प्रबन्ध मैं करूँ। कार्याधिक्य के कारण उनके जीवन काल में यह कार्य पूर्ण नहीं कर पाया।

"आयुर्वेद सूत्र" का प्रथम संस्करण समाप्त हो जाने के कारण तथा केन्द्रीय शुद्ध आयुर्वेद शिक्षा बोर्ड द्वारा "आयुर्वेद प्रवेशिका" पाठचक्रम के लिए इस पुस्तक के पाठ्य पुस्तक अनुमोदित हो जाने के उपरान्त इस पुस्तक की माँग अत्यधिक बढ़ गई।

मेरे परमपूज्य बड़े भाई पद्म भूषण वैद्यरत्न पण्डित शिवशर्माजी ने मुझे आज्ञा दी कि यथा शीघ्र पूज्य पिताजी की इच्छा पूर्ण करूँ। उनके ही आदेश तथा पथ प्रदर्शन का फल है कि इस ग्रन्थ का द्वितीय संस्करण छात्र गण के लिए प्रस्तुत है। मैं पूज्य भ्राताजी का हृदय से आभारी हूँ जिनकी परम कृपा तथा वात्सल्य से मैं आयुर्वेद जैसे गहन शास्त्र के अध्ययनाध्यापन तथा अनुसन्धान की दिशा में आगे बढ़ने में सफल होने लगा हूँ।

इन दो शब्दों के साथ ही "आयुर्वेद सूत्र का यह संस्करण मैं अपने पूज्य पिताजी की स्मृति में समर्पण करता हूँ।

प्रसाद भवन, पटियाला,
अगस्त १५, १९६५.

विनीत
कीर्ति शर्मा

भूमिका

प्रथम संस्करण

यया किल रावण हुङ्कारपूरिते लङ्कासङ्ग्रामाङ्गणे सर्वनाशमिवापस्वप्नायमाणोऽनुजवियोग विह्वलो दाशरथी प्राणानिव लक्ष्मणनेत्रोन्मीलनेन पुनरासाद्य सीतामिव त्रैलोक्य विजय लक्ष्मीं लेभे, याममनुशील्याश्विनीकुमारौ जरार्जितवपुषे च्यवनाय महर्षये समुद्भिन्नयौवनां सुकुमारां कुमारतामन्वगृह्णतां, यत्कृपया ताभ्यां यज्ञस्य शिरः सन्धत्तं, प्राप्तश्च यज्ञभागः।ययाहि महर्षिशापपावकप्लुष्टं परीक्षितं रक्षितुमुपक्रममाणो भिषगाचार्यः सर्पफूत्कार भस्मीकृतं वृक्षं पुरुषं च जीवयन्; सर्पदर्पं तिरश्चकार, याममनुराध्याऽर्जुन इव नागार्जुनोऽनुपतन्तं कालमपि भर्त्सयामास, यत्कृपया ब्रह्मानन्दमिव पारदरसमास्वाद्य, शूलपाणिरिव गोरक्षनाथोऽव्याहतां व्योमचरितां ययौ, यया च भगवान् धन्वन्तरिरिमं लोकं युगपदेव जिघित्सितुमाक्रामतो मृत्योरट्टहासं शिथिलीचकार, सैवेयं सञ्जीविनी वैद्यविद्या कियदुपकरोति लोकस्येति समर्थयतुं न वचांस्यपेक्ष्यन्ते।

स्वल्पाक्षरमिदमायुर्वेदसूत्रं, न मया व्यापारपरायणेन समाजे वैद्यानां मानमुपार्जितुमुत्स्वप्नायमानेन वा मनसा निबद्धम्। अपितु निजतनयानां सुकुमारमतीनामायुर्वेदशास्त्रे अनुरक्तचेतसामपि शैशवभावाद्दुरवगाह्यानां चरकसुश्रुतादि तन्त्राणामध्ययनात्पराजयमाणानां संकलितार्थं इवायं मे सूत्राणां संग्रहो भूयसीमुपकृतिं करिष्यतीति धियैव।

नाध्यातमपि मयेदमिदमारभमाणेन यदिदं लोकस्याऽपि तथैवोपयोक्ष्यते, विदुषां वा मतमिह सम्बदिष्यति। नच नामैतदाकांक्षितमपि मे वर्तते। अध्यायन्नध्यापको यथा जटिल विषयेषु संकेतांल्लेखयति तथैव स्वसुतांश्चछात्रांश्चाध्यापयता संकेता एव किलैते मया कारिता आसन्। परमेतदिदानीं मुद्रणे परिणतं पुस्तकं लोकस्यापि दृष्टिपथमवतरिष्यतीति सत्पुरुषान् विदुषोऽभ्यर्थये यदहमस्य गुणदोषविवेचनया परमुपकृतो भविष्यामि, या च मे द्वितीय संस्करणावसरे काम्प्युपयोगितामावहेत्।

जिसके द्वारा रावण के हुङ्कार से भरे, लंका के युद्धस्थल में अपने सर्वनाश का स्वप्न देखते हुए, भाई के वियोग से विकल रामचन्द्र जी ने भाई

लक्ष्मण के जी उठने पर सीता की तरह तीन लोक की विजय लक्ष्मी का लाभ किया, जिसके द्वारा अश्विनीकुमारों ने, बुढ़ापे से जर्जरित च्यवन महर्षि को नई जवानीवाला सुकुमार लड़कपन दिया, देवताओं की प्रार्थना से दक्ष का सर जोड़ा और यज्ञ में भाग लिया, जिसके अनुशीलन से अर्जुन की तरह नागार्जुन ने काल को फटकार दिया, जिसकी कृपा से ब्रह्मस्वाद सदृश पारद रसास्वादन कर गोरखनाथ ने भगवान् शङ्कर की भांति स्वच्छन्दता से आकाश में विचरण की शक्ति प्राप्त की, जिसके बल से भगवान् धन्वन्तरि ने संसार को एक साथ खाने के लिए उद्यत मृत्यु के अट्टहास को फीका कर दिया, वह ही यह संजीवनी आयुर्वेद विद्या, संसार का कितना उपकार कर रही है, यह बताने के लिए शब्दों की आवश्यकता नहीं है।

यह छोटा सा ग्रन्थ—"आयुर्वेद सूत्र" न तो मैंने किसी व्यापारिक दृष्टि से बनाया है और न ही इस आशा से कि इस द्वारा वैद्य समाज में मैं मान प्राप्त करूं। इस ग्रन्थ का निर्माण मैंने अपने उन बच्चों के लिए किया है जो आयुर्वेद में प्रेम रखते हुए भी बालभाव के कारण चरक सुश्रुत आदि बड़े बड़े ग्रन्थों को पढ़ने से जी चुराते हैं ताकि सारगर्भित छोटे छोटे सूत्रों से वह यथोचित लाभ उठा सकें।

संसार के लिए भी यह ठीक इसी प्रकार उपयोगी होगा अथवा विद्वत्समाज इसमें मेरे से सहमत होगा—इस ओर मैंने इस पुस्तक के लिखते समय ध्यान भी नहीं दिया, न मुझे इस की इच्छा ही थी।

जिस प्रकार पढ़ाते समय अध्यापक वर्ग जटिल स्थलों पर नोट लिखवा दिया करते हैं वैसे ही अपने लड़कों और शिष्यवर्ग को पढ़ाते समय मैंने यह नोट बनवाए थे। अब यह नोट ही पुस्तकाकार में मुद्रित होगए हैं। अब इन पर सर्वसाधारण की दृष्टि भी पड़ेगी इसलिए सज्जन विद्वान् पुरुषों से यह प्रार्थना है कि मैं उन द्वारा किए गए गुण दोष विवेचन से अनुगृहीत हूँगा—जिससे द्वितीय संस्करण में मैं इस विवेचन का लाभ उठा सकूं।

विनीत

रामप्रसाद शर्म्मा राजवैद्य पटियाला

श्री:

ॐ नमः शिवाय

प्रथमोऽध्याय:

सू०—अथायुर्वेदः ॥ १ ॥

प्रसादिनी टीका :—

नमस्तस्मै महेशाय, प्रसादाद्यस्य लेखिनी ।।
अल्पज्ञेन प्रयुक्तापि, जायते गुणवर्धिनी ।। १ ।।
हेलाकल्पित सूत्राणामियं व्याख्या प्रसादिनी ।।
धात्रीव बालबोधाय, कल्प्यते सरसा मया ।। २ ।।

अथेत्यारम्भार्थो माङ्गलिकश्चापि । ॐकाराथशब्दौ हि ख्यातौ मङ्गल कारकौ । शास्त्रान्तरेष्वपि मङ्गलत्वेन प्रयुक्तोऽयमथ शब्दः । यथा—"अथ योगानुशासनम्" "अथातो ब्रह्म जिज्ञासेति ।" ।इह खलु मङ्गलार्थं, शिष्टाचार प्रतिपादनार्थं, शिष्यशिक्षायै च निवध्यतेऽथशब्दः ।।

शरीर जीवयोर्योगो जीवनम् । तदवच्छिन्नः कालोनामायुः । आयुषोवेदः आयुर्वेदः । आयुः शरीरेन्द्रियसत्वात्मसंयोगोधारिजीवितमिति भगवानात्रेयः ।।

कस्मादायुर्वेदः ? आयुरस्मिन् विद्यते अस्तीत्यायुर्वेदः । अथवा आयुर्विद्यते ज्ञायतेऽनेनेत्यायुर्वेदः । , आयुर्विद्यते, ज्ञायते विचार्यतेऽनेनेत्यायुर्वेदः ।। अनेनायुर्विन्दति प्राप्नोति वेत्यायुर्वेदः । उपदिश्यते इति सूत्रविशेषः ।।

नितान्तमभावात् पयः सर्पिषो ह्रासमुपगतायुषामल्पमेधसां वैद्यविद्यानुरागिणामियं लौकिकी धर्मार्थयशस्करी च जीवनविद्या परिमिताक्षरैः सारसंवलितैः सूत्रैरुपदिश्यते ब्रह्मादिभिः प्रणीतेष्वायुर्वेद तन्त्रेष्वति विस्तरत्वान्नार्थाधिगमः सुकरः ॥

भाषा टीका :

सविनय श्री महादेव को बारम्बार प्रणाम।
जिनकी परमकृपालुता है साधक सब काम ॥ १ ॥
लीला कल्पिततन्त्र की भाषा लिखौं बनाय।
रामप्रसाद प्रसादिनी जिमि बालक की धाय ॥ २ ॥

अथ शब्द आरम्भ और मंगलार्थक होता है। ॐकार और अथ शब्द मंगल देनेवाले शब्द हैं। शास्त्रान्तरों में भी अथ शब्द का मंगल के लिए प्रयोग किया गया है। यहाँ पर भी अथ शब्द का प्रयोग मंगल कामना शिष्टाचार की मर्यादा और शिष्यभी इसका अनुसरण करें, इस ही उपदेश के लिए यहां अथ शब्द का प्रयोग किया गया है।

शरीर और जीवात्मा के संयोग को जीवन कहते हैं। जिस समय तक जीवन बना रहे उस काल को आयु कहते हैं। आयु का विज्ञान जिस शास्त्र में हो उसे आयुर्वेद कहा जाता है। जैसे आत्रेय जी ने चरक में कहा है—शरीर, इन्द्रिय, मन और आत्मा के धारण करने वाले काल को आयुः कहते हैं। आयु इसमें विद्यमान है अथवा आयु का इसमें विचार किया जाता है या इससे आयु जानी जाती है अथवा आयु इससे प्राप्त होती है इस कारण इसे आयुर्वेद शास्त्र कहते हैं। इस आयुर्वेद का इस तन्त्र में उपदेश किया जायगा।

घी और दूध अचानक कम हो गए इस लिए मन्द तथा अल्प बुद्धिवाले आयुर्वेद जिज्ञासुओं के लिए धर्म, अर्थ और यश पैदा करने वाली इस संजीवनी विद्या का सारयुक्त छोटे छोटे सूत्रों में उपदेश किया जाता है। ब्रह्मा आदि प्राचीन ऋषिजनों द्वारा निर्मित ग्रन्थ अतिविस्तृत हैं इस लिए सुगमता से अर्थज्ञान नहीं होता—इस कारण ही प्रकृत ग्रन्थ का निर्माण किया जा रहा है।

सू०–आरोग्यञ्चास्य विज्ञानात् ॥ २ ॥

प्र. टी.—अस्य चायुर्वेदस्य परिशीलनादारोग्यं लभते । स्वस्थोहि दीर्घमायुष्यं विन्दति यथाच :—

आयु:कामयमानेन, धर्मार्थसुख साधनम् ॥
आयुर्वेदोपदेशेषु विधेय: परमादर: ॥
चकारान्मोक्षोपायसाधनता प्रतिपाद्यते ॥

भा. टी.—उस आयुर्वेद के यथोचित ज्ञान से पुरुष दीर्घायु तथा आरोग्य प्राप्त करता है । जैसा कि कहा है–" धर्म-अर्थ -काम और मोक्ष की साधना आयु की कामना वाले मनुष्यों को आयुर्वेद के उपदेशों का परम आदर रखना चाहिए । सूत्र में चकार शब्द से मोक्ष साधन के उपाय-दीर्घजीवन का कथन किया है । इस ही का विवेचन आगे करते हैं

सू०–पुरुषार्थसिध्यर्थम् ॥ ३ ॥

प्र. टी.–तदारोग्यं दीर्घजीवनञ्च धर्मार्थकाममोक्षसाधनीभूतम् । तत्रालौकिकत्त्वाददृष्टार्थत्त्वादप्रवृत्तानां यज्ञादीनां शास्त्रात्प्रवर्तनम्, लौकिकत्वाद् दृष्टार्थत्वाच्च प्रवृत्तेभ्यश्च मांसभक्षणादिभ्य: शास्त्रादेव निवारणं धर्म: । अथवा यतोऽभ्युदयनि:श्रेयससिद्धि: स धर्म: । धर्म: पुरुषगुण: कर्तु: प्रियहितकरोमोक्षहेतु:, अतीन्द्रियोऽन्त्यसुखसंविज्ञानविरोधी, पुरुषान्त:करण संयोगविशुद्धाभिसंधिजो वर्णाश्रमिणां प्रतिनियत साधननिमित्त: ।

विद्याभूमि हिरण्यपशुधान्य भाण्डोपस्करमित्रादीनामर्जनं परिवर्धनञ्चार्थ: । श्रोत्रत्वक् चक्षुर्जिह्वा घ्राणानामात्मसंयुक्तेन मनसाधिष्ठितानां, स्वविषयेष्वानुकूल्यत: प्रवृति: काम: । अथवा स्पर्श विशेषविषयाभिमानिक सुखानुविद्धाफलवत्यर्थ प्रतीति: प्राधान्यात् काम: ।

आत्यन्तिक दुःख निवृतिर्मोक्षः । दुःखध्वंसानन्तरं परमसुखावाप्तिर्मोक्षः । स च परमदयालोः परमेश्वरस्यैव कृपया तद्भक्तैः प्राप्यः । आत्रेयस्तु निवृत्तिरपवर्गः । निवृत्तेरुपायस्तु लोकपुरुषयोः सम्यग्ज्ञानं यदुच्यते ।

लोके विततमात्मानं लोकंञ्चात्मनि पश्यतः ।
परावरदृशः शान्तिर्ज्ञान मूला न नश्यति ।।
पश्यतः सर्वभूतानि सर्वावस्थासु सर्वदा ।
ब्रह्म भूतस्य संयोगो न शुद्धस्योपपद्यते ।।
नात्मनः कारणाभावाल्लिंगमप्युपलभ्यते ।
सः सर्वकारणत्यागान्मुक्त इत्यभिधीयते ।।
विपापं विरजं शान्तं परमक्षरमव्ययम् ।
अमृतं ब्रह्मनिर्वाणं पर्यायैः शान्तिरुच्यते ।।

पुरूषार्थ साधनोपायभूतं रोगरहितं दीर्घमायुष्यंञ्चायुर्वेदस्य प्रयोजनम् । आयुर्वेदतत्वावधारणकामोऽधिकारी । धातुक्रिया साम्यञ्चास्य प्रयोजनम् । अस्यतत्वार्थाविबोधात् तद्विध्यनुष्ठानाच्चारोग्याख्यस्योपेयस्य तथाऽभिमतस्यायुषःपरमपुरुषार्थस्येदमेव तंत्रमुपायः । अत्रोपायोपेय लक्षण सम्बन्धवच्च हेतुलिंगोषधज्ञानमस्याभिधेयमुक्तम् ।। ३ ।।

भा. टी.—वह आरोग्य और दीर्घजीवन धर्म, अर्थ, काम, और मोक्ष साधन के लिये हैं।

(१) धर्म—अलौकिक और अदृष्टार्थक होने पर भी अप्रवृत्त यज्ञादिकों की शास्त्राज्ञा से प्रवृति कराते हुये, लौकिक और दृष्टार्थ होने से प्रवृत्त हुये मांस भक्षणादि का निवारण करने को धर्म कहते हैं। अथवा जिसके करने से मोक्ष की प्राप्ति हो वह धर्म है। यथार्थ में तो धर्म पुरुष का गुण है। कर्त्ता के लिए प्रिय और मोक्ष का कारण है। अत्यन्त सुख और सम्यक् ज्ञान होने पर

इसकी आवश्यकता नहीं रहती। यह पुरुष के अन्तःकरण में शुद्ध सात्विक सम्बन्ध होने से उत्पन्न होता है। वर्णाश्रमियों का प्रतिनियत साधन निमित्त धर्म है।

(२) विद्या, भूमि, सुवर्ण, धान्य, पात्र, मित्रादिकों का अर्जन करना और बढ़ाना अर्थ है।

(३) श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना, घ्राण, इन पाँच ज्ञानेन्द्रियों का आत्मा-संयुक्त मन के अधीन होकर, अपने २ विषयों में प्रवृत्त होना काम कहा जाता है। या स्पर्श विशेष विषयाभिमानी सुखानुविद्ध फल की प्रतीति प्रधानता से काम कही जाती है।

(४) आत्यन्तिक दुःख निवृत्ति मोक्ष है। या दुःख नाशानन्तर परम सुख की प्राप्ति ही मोक्ष है। जो दयामय ईश्वर की कृपा से कुछ भक्तों को ही प्राप्त हो सकती है। आत्रेय कहते हैं निवृति मोक्ष है। जैसे कहा है :—

सम्पूर्ण जगत के भावों को अपने में और अपने सम्पूर्ण भावों को जगत् में देखते हुये, परावर दृष्टि से ज्ञानमूलक शान्ति कभी नष्ट नहीं होती। जो शुद्ध ज्ञान की दृष्टि से सर्वावस्था में सब जीवों को ब्रह्मभाव से देखता है, उस ब्रह्म रूप शुद्ध आत्मा का जन्म मरण से संयोग नहीं होता। जब कारण भाव से इसे अपना कोई चिह्न प्रतीत नहीं होता तब यह सब कारणों के परित्याग से मुक्त कहलाता है। इसी शान्ति को पाप रहित, विरज, शान्त, परम, अक्षर, अव्यय, अमृत, ब्रह्म और निर्वाण कहते हैं। इस प्रकार चतुर्विध पुरुषार्थ साधनोपायभूत, "स्वास्थ्य व दीर्घायुष्य", इस आयुर्वेद ज्ञान का प्रयोजन है।।।

धातुसाम्यक्रिया इसका प्रयोजन है। आयुर्वेदतत्व को जानने की इच्छा वाला (अर्थात् जिज्ञासु) इसका अधिकारी है। इसके तत्वज्ञान से और इसके अनुसार अनुष्ठान करने से, आरोग्य रूप उपेयाभिमत आयु के परम पुरुषार्थ (मोक्ष) का यह उपाय है। इस उपेयोपाय लक्षण सम्बन्धवाला हेतु, लिङ्गौषध ज्ञान ही इसका अभिधेय कहा है।। ३ ।।

सू०—प्रत्यक्षानुमानयुक्त्याप्तोपदेशाः प्रमाणानि ॥ ४ ॥

प्र. टी.—प्रमीयतेऽनेनेति प्रमाणम् । अनेन प्रमाणस्य प्रमांप्रति कारणत्वमवगम्यते । तेन प्रमाकरणं प्रमाणमिति । नार्थप्रतिपत्तिः प्रमाणमन्तरेण । न चार्थप्रतिपत्तिं विना प्रवृत्तिर्भवति । अर्थाऽव्यभिचारिप्रवृत्ति सामर्थ्यादर्थवत्प्रमाणम् । प्रमाणे चार्थवति, प्रमाता, प्रमेयं, प्रमितिरित्यर्थवन्ति भवन्ति । अन्यथाऽर्थस्यानुपपत्तेः। तत्र यस्य प्रवृतिः स प्रमाता । स येनार्थं प्रमिणोति तत्प्रमाणम् । योऽ र्थः प्रमीयते तत्प्रमेयम् । यदर्थविज्ञानं सा प्रमितिः ।

द्विविधं खलु सर्वम् । सच्चासच्च । तत्परीक्षणार्थं प्रमाणानि। यथा—प्रत्यक्षं, अनुमानं, युक्तिः, आप्तोपदेशश्च । तत्रात्मेन्द्रियमनोऽर्थसन्निकर्षजन्यं निश्चयात्मकमव्यभिचारिज्ञानं प्रत्यक्षम् । प्रत्यक्ष पूर्वकं त्रिविधमनुमानम् । तत्तु कार्यात्कारणानुमानं, यथा गर्भदर्शनान्मैथुनानुमानम् । एवं कारणात्कार्यानुमानं, यथा सहकारिकारणान्तरयुक्ताद्बीजात्फलानुमानम् । एमेव सामान्यतो दर्शनादनुमानं यथा—धूमाद्वर्तमानलक्षणसम्बन्धादग्न्यनुमानम् । अनेन पूर्ववत्, शेषवत् सामान्यतो दृष्टमिति त्रिविधमनुमानम् । अनुमीयते येन तदनुमानम् । तेन, व्याप्ति ग्रहणानन्तरमीयते सम्यङ निश्चीयते परोक्षार्थो येन तदनुमानम् ।

'युक्तिरेवोपमानम् । प्रसिद्ध साधर्म्यात् साध्यसाधनमेवास्य प्रयोजनम्; यथा—जलकर्षणसंस्कृतायां भूमौ बीजर्तुसंयोगात् शस्योत्पत्तिर्भवति । तथा षड्धातुसमुदायात्संयोगाद्वागर्भस्योत्पत्तिर्भवति । यथा मन्थ्यमन्थन संयोगादग्निरुत्पद्यते । तथा सम्यक् प्रयुक्ता चतुष्पादसम्पद् व्याधिनिर्वहणी भवति ।

आप्तोपदेशस्तावत् वेदाज्ञा ऋषिवाक्यञ्च। यतो-रजस्तमोभ्यां निर्मुक्तास्तपोज्ञानबलेन ये। येषां त्रिकालममलं ज्ञानमव्याहतं सदा।। आप्ताः शिष्टाः विबुद्धास्ते, तेषां वाक्यमसंशयम्। सत्यं वक्ष्यन्ति ते, कस्मादसत्यं निरजस्तमाः। एवं चतुर्भिः प्रमाणैः पुनर्भवोऽस्तीति विज्ञायते। अतः धर्माचरणेन शरीरयात्रा विधेया।

भा. टी.—जिसके द्वारा "प्रमेय" का यथार्थज्ञान हो वह "प्रमाण" कहलाता है, क्योंकि बिना प्रमाण के अर्थ की प्रतिपत्ति नहीं होती। बिना अर्थ प्रतिपत्ति के प्रवृत्ति नहीं हो सकती। इसलिये प्रमाण अर्थवान् है। प्रमाण के अर्थवान् होने से प्रमाता, प्रमेय, प्रमिति ये सब अर्थवाले होते हैं। जैसे जो पुरुष विषय जानने में प्रवृत्त होता है उसको "प्रमाता" कहते हैं। वह जिसके द्वारा अपने विषय का निश्चय करता है उसको "प्रमाण" कहते हैं। जिस अर्थ को वह जानता है वह "प्रमेय" कहा जाता है। उसमें जिस अर्थ का विज्ञान या निश्चय होता है उसको "प्रमिति" कहते हैं।

संसार में सब कुछ दो भागों में विभक्त है। सत् या असत्, उस सत् और असत् की परीक्षा के लिये चार प्रमाण हैं। जैसे प्रत्यक्ष, अनुमान, युक्तिः (उपमान) और आप्तोपदेश।

आत्मा, इन्द्रिय, मन, और इन्द्रियों के विषय, इनके सन्निकर्ष से जो निश्चयात्मक व्यभिचार रहित ज्ञान उत्पन्न होता है, उसको प्रत्यक्ष कहते हैं।

प्रत्यक्ष पूर्वक तीन प्रकार का अनुमान होता है। इन में कार्य से कारण का अनुमान, जैसे गर्भ देखने से मैथुन का अनुमान होता है। ऐसे ही कारण से कार्य का अनुमान होता है, जैसे —अन्य सभी सहकारी कारणयुक्त बीज से फल का अनुमान होता है। ऐसे ही सामान्यतोदृष्टानुमान है, जैसे वर्तमान लक्षण युक्त सम्बन्धि धूम से अग्नि का अनुमान होता है ;। इस प्रकार पूर्ववत् (अतीतकालिक) शेषवत् (भविष्यत् कालिक) सामान्यतोदृष्ट (वर्तमान कालिक) यह तीन प्रकार का अनुमान होता है।

किसी वस्तु के व्याप्तिवाले अंग को देखने के पश्चात्, जिसके द्वारा उस वस्तु का ठीक निश्चय किया जाय उसको "अनुमान" कहते हैं।

युक्ति उपमान को कहते हैं, लोक प्रसिद्ध साधर्म्य से साध्य का साधन करना ही इसका प्रयोजन है। जैसे—जलसिक्त और जोती हुई भूमि में बीज और तदनुकूल ऋतु के संयोग से शस्य (खेती) उत्पन्न होता है। वैसे ही पृथ्वी जल, तेज, वायु आकाश और आत्मा इनके उचित संयोग से गर्भ उत्पन्न हो जाता है। जैसे यज्ञ में अग्नि उत्पन्न करने की दोनों अग्निमन्थ की लकडियाँ (काष्ठ) और मन्थन कर्ता के व्यापारजन्य काष्ठसंघर्ष से अग्नि उत्पन्न होती है, उसी प्रकार औषध, रोगी, वैद्य, परिचारक, इन, चिकित्सा के उत्तम चारों पदों के उचित संयोग से रोग दूर होकर, आरोग्य प्राप्त होता है।

आप्तोपदेश वेदाज्ञा है तथा ऋषियों के वाक्य हैं। क्योंकि जो महात्मा ज्ञान और तप के बल से रजोगुण और तमोगुण से रहित हो गये हैं, जिनका, भूत, भविष्यत्, वर्तमान, इन तीनों कालों में निर्मल और कभी नष्ट न होने-वाला ज्ञान सदा बना रहे, उनको आप्त, शिष्ट और विबुध कहते हैं। उनके वाक्य निःसन्देह मानने चाहियें।

इस प्रकार चार प्रमाणों से पुनर्जन्मका होना भी सिद्ध है। इसलिये धर्माचरण से ही शरीर यात्रा का निर्वाह करना चाहिये ॥ ४ ॥

सू०—पञ्चमहाभूतशरीरिसमवायश्च पुरुषः ॥५॥

प्र. टी.—अस्मिन् शास्त्रेऽस्मिन्नेवाधिकारे वा पृथ्वी, जलं, तेजः वायुः आकाशमिति पञ्चमहाभूतानि, शरीरी आत्मा, एषां नित्यसम्बन्धी, पुरुष इत्युच्यते। तथा चकारात् पुरि शरीरे शेतते इति पुरुषः। यद्यपि धातुक्रियासाम्यार्थं शारीरिकचिकित्सार्थञ्च केवलं पञ्चमहाभूत शरीरिसमवाय एव पुरुषोऽत्राभिप्रेतः, परञ्च शास्त्रान्तर व्यवहारानुरोधादाध्यात्मिकरोगनिवृत्यर्थञ्चकेवल चेतना धातु पुरुषस्यापि ग्रहणमत्र। पृथिव्यादीनां व्याख्यां विस्तरेण शारीराध्याये करिष्यामः॥ ५ ॥

भा. टी.—इस शास्त्र म अथवा इस धातुक्रियासाम्याधिकार में पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश और आत्मा इनके समवाय सम्बन्ध को पुरुष कहते हैं। चकार से शरीर में रहने वाले आत्मा का भी पुरुष शब्द से ग्रहण किया है। यद्यपि धातुक्रिया साम्यार्थ और शारीरिक चिकित्सा के लिये केवल पञ्च-महाभूत के शरीर और आत्मा के समवाय सम्बन्ध को ही पुरुष नाम से ग्रहण किया है, परन्तु अन्य दर्शन शास्त्रों के व्यवहारानुरोध से और आध्यात्मिक रोग निवृत्ति के लिये केवल चेतना धातुरूप आत्मा का भी पुरुष शब्द से ग्रहण है। पृथ्वी आदि पञ्चमहाभूतों की व्याख्या शारीराध्याय में विस्तार से करेंगे ॥ ५ ॥

सू०—तद्दुःखसंयोगा व्याधयः ॥ ६ ॥

प्र. टी.—तस्य पूर्वोक्तपञ्चमहाभूतशरीरिसमावयभूतस्य पुरुषस्य दुःखेन संयोगाः व्याधयः इत्युच्यन्ते। तस्य पुरुषस्य दुःखानां वेदनानां ये संयोगास्ते व्याधय इत्युच्यन्ते। अथवा तस्य पुरुषस्य येषु सत्सु, यैर्वा कारणैः, कारणभूतैर्वा, येभ्यो वा दुःखं जायते ते व्याधयः ॥ ६ ॥

भा. टी.—उस पञ्चमहाभूत समुदायात्मक पुरुष का दुःखों के साथ संयोग होना व्याधियाँ कहलाती हैं। अथवा उस पुरुष को दुःखों कष्टों, से जो संयोग होते हैं, उन्हें व्याधियाँ कहते हैं। अथवा उस पुरुष को जिन संयोगों में दुःख हो, अथवा हेतुभूत जिन कारणों से दुःख हो, अथवा जिन संयोगों से दुःख हो उनको व्याधियाँ कहते हैं ॥ ६ ॥

सू०—शारीरागन्तुकमानस स्वाभाविकाश्च ॥७॥

प्र. टी.—ते व्याधयः शारीरिक-आगन्तुक-मानसिक-स्वाभाविक भेदेन चतुर्धाः विज्ञेयाः। चकारेणात्र स्वाभाविक व्याधेः विशिष्टं प्रतिपादनम्।

(१) शारीरास्त्वत्राहारविहारमूलाः वातपित्तकफवैषम्य निमित्ताः ।

(२) आगन्तवश्चात्राभिघातनिमित्ताः।

(३) मानसास्तु रजस्तमनिमित्ताः इच्छाद्वेषभेदैर्भवन्ति । क्रोधशोकभयहर्षविषादेर्ष्याभ्यसूयादैन्यमात्सर्यकामलोभप्रभृतयः ।

(५) स्वाभाविकास्तु जरामृत्यु क्षुत्पिपासा निद्रा प्रभृतयः । जरा वार्धक्यम्, मृत्युः प्राणवियोगः, क्षुत्, पिपासा, निद्रा अत्र स्वभाविका ग्राह्या । अत्र प्रकृतिग्रहणेन दोषवैषम्य निमित्तक क्षुत् पिपासादिभ्यो भिन्नत्वं प्रतिपादितम् ।

भा. टी.—वे रोग शारीरिक आगन्तुक, मानसिक, और स्वाभाविक इन चारों भेदों से चार प्रकार के जानने चाहिये । सूत्र में चकार स्वाभाविक व्याधि के विशिष्ट रूप का प्रतिपादन करता है ।

(१) यहाँ शारीरिक व्याधियाँ आहार, विहार, मूलक वात, पित्त कफ की विषमता से होती हैं ।

(२) आगन्तुक-रोग किसी प्रकार के अभिघात से उत्पन्न होते हैं ।

(३) मानसिक रोग, रजोगुण और तमोगुण से उत्पन्न होते हैं । तथा इच्छा, द्वेष के भेदों से क्रोध, शोक, भय, हर्ष विषाद, ईर्ष्या, अभ्यसूया, दैन्य, मात्सर्य, काम, लोभादि नाम से कहे जाते हैं ।

(४) स्वाभाविक-रोग—बुढापा, मरण, क्षुधा, प्यास, और निद्रा को कहते हैं । यहाँ प्रकृति शब्द से स्वाभाविक , क्षुधा, प्यास, निद्रा का ग्रहण है । और दोषवैषम्य निमित्तक क्षुत् पिपासादि को अलग शारीर रोगों में माना है ॥ ६ ॥

सू०—ते मनोऽधिष्ठानाः शरीराऽधिष्ठानाश्च॥८॥

प्र. टी.—ते व्याधयो मनोऽधिष्ठानाः शरीराधिष्ठानाश्च । तत्र क्रोधशोकादयो मनोऽधिष्ठानाः, ज्वरादयश्च शरीराधिष्ठानाः ।

मूर्च्छाऽपस्मारादय उभयाधिष्ठानाः । यद्यपि शारीराः व्याधयोऽपि मनः पीडयन्ति, एवं मानसा अपि शरीरं पीडयन्ति । परञ्च मानसा-व्याधयः पूर्वं मनः प्रपीड्य पश्चाच्छरीरम्, एवमेव शारीराःपूर्वं शरीरं प्रपीड्य पश्चान्मनः पीडयन्ति । अतो न व्यभिचारः । आत्मा तु निर्विकारत्वात् व्याध्यधिष्ठानमेव नास्तीत्यत उक्तम्, "मनः शरीराधिष्ठानाः" इति ॥ ८ ॥

भा. टी.—वे रोग मन और शरीर के आश्रित रहते हैं । इन में क्रोध शोकादि मन के आश्रित रहते हैं । ज्वर अतिसारादि शरीर के आश्रित होते हैं । तथा मूर्च्छा अपस्मारादि दोनों के आश्रित होते हैं । यद्यपि शारीरव्याधियाँ भी मन में पीड़ा उत्पन्न करती हैं, मन को कष्ट पहुचाती हैं, और मानसिक व्याधियां भी शरीर को पीडित करती हैं, किन्तु जैसे मानस रोग पहिले मन को पीडित कर पश्चात् शरीर में कष्ट उत्पन्न करते हैं उसी प्रकार शरीर में होनेवाले रोग भी पहिले शरीर को पीड़ित कर पश्चात् मन को कष्ट देते हैं। इसलिये इनके अधिष्ठान भेद में कोई दोष नहीं आता । आत्मा तो निर्विकार होने से रोगों का आश्रय नहीं है । इसलिये मन और शरीर ही रोगों के अधिष्ठान हैं ॥ ८॥

सू०—मानसानाञ्च विज्ञानादुपरमः ॥ ९ ॥

प्र. टी.—मानसानां मनः सम्भूत विकाराणां निवृत्यर्थं यथार्थज्ञानोपदेशः चकारात् धैर्यधृत्यादयोऽपि मानसरोगान्परिहरन्तीति ॥ ९ ॥

भा. टी.—मन में होनेवालेरोगोंकी निवृत्ति के लिये विचार पूर्वक यथार्थ ज्ञान का उपदेश करना चाहिये । तथा धैर्य देना और हित शब्दों से धारणा शक्ति को स्थिर करना आदि भी मानसिक रोगों को दूर करते हैं ॥९॥

सू०-शारीराणाञ्च धातुक्रिया साम्यमेव॥१०॥

प्र. टी.—शारीरास्तु निजागन्तुज भेदेन द्विविधाः । तत्र निजास्त्वन्नपानमूला वातपित्तकफवैषम्यनिमित्ता : । तेषां संशोधन-संशमनादीनि सम्यक् प्रयुक्तानि धातु क्रिया साम्यकराणि भवन्ति । धातुक्रिया साम्यमेवारोग्यम् । तथागन्तुजानां व्याधीनां शल्यत-न्त्रोक्त विधिना परिमार्जनं विधेयमिति चकारार्थः ।। १० ।।

भा. टी.—शारीरिक रोग निज और आगन्तुक भेद से दो प्रकारके होते हैं । उन में अन्नपान के मिथ्या या विषम योगसे वात पित्त कफ की विष-मता हो कर जो शरीर में ज्वरादि रोग होते हैं, वे निज कहे जाते हैं । उन रोगों में विधिपूर्वक शोधन और संशमन आदि का ठीक प्रयोग करना धातुओं और उनकी क्रियाओं को साम्यावस्था में करता है । दोष धातुओं और उनकी क्रियाओं का साम्यावस्था में होना ही आरोग्य है । तथा अभिघात निमित्तक रोगों को शल्यतन्त्र की विधि से निवृत्त करना यह सूत्र में चकार से कह दिया है ।। १० ।।

सू०-कालार्थकर्म्मणां हीनमिथ्यातियोगा रोगोत्पादकाः ॥ ११ ॥

प्र. टी.—संकलयति कालयति वा भूतानीति कालः, सुसूक्ष्मां कलामपि न लीयते वेति कालः । तस्यादित्यगति विशेषेण निमेष-काष्ठाकलामुहूर्त्ताहोरात्र—पक्ष-मासत्र्वयन सम्वत्सर युग प्रविभागा भवन्ति । तत्र लघ्वक्षरोच्चारणमात्रोऽक्षि निमेषः, पञ्चदशा-क्षिनिमेषाः काष्ठा, त्रिंशत् काष्ठाः कला, विंशतिकलो मुहूर्तः, त्रिंशन्मुहूर्तमहोरात्रम्, पञ्चदशाहोरात्राणि पक्षः, स च शुक्लः कृष्णश्च, तौ मासः । इह तु भाद्रपदाद्येन द्विमासिकेन वर्षा-शरद्-

हेमन्त-वसन्त-ग्रीष्म-प्रावृषः षडृतवो भवन्ति। त एते शीतोष्णवर्ष-लक्षणा दोषोपचयप्रकोपशमन निमित्तम्। तत्र चन्द्रादित्ययोः काल भाग करत्वात् द्वे अयने भवतः,दक्षिणमुत्तरञ्च,तयोर्दक्षिणं वर्षाशरद्-हेमन्ताः तेषु सोम्य आप्यायते, अम्ललवणमधुराश्च रसा बलवन्तो भवन्ति। प्राणीनामुत्तरोत्तरं बलमभिवर्धते। उत्तरञ्च शिशिर वसन्तग्रीष्माः। तेषु अर्कश्चाप्यायते। तिक्त कषायकटुकाश्च रसा बलवन्तो भवन्ति। उत्तरोत्तरञ्च प्राणिनां बलमपि हीयते। द्वे अयने सम्वत्सरो भवति। ते पञ्च युगमिति। एष निमेषादियुग-पर्य्यन्तः चक्रवत् परिवर्त्तमानः कालः, कालचक्रञ्चोच्यते।

अर्थाः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः पञ्चमहाभूतगुणाः पञ्चज्ञाने-न्द्रियाणां विषयाः।

कर्म. क्रिया, कायवाङ मनश्चेष्टाः कर्म्मेन्द्रियाणां विषयाः।

•कालश्चार्थश्चकर्म च कालार्थकर्माणि तेषां हीनमिथ्याति-योगा रोगोत्पादकाः ज्ञेयाः।

(१) हीनप्रवृत्तिः हीनयोगः।

(२) अतिप्रवृत्तिरतियोगः।

(३) मिथ्याप्रवृत्तिर्मिथ्यायोगः।

पञ्चज्ञानेन्द्रियाणि, पञ्चकर्म्मेन्द्रियाणि, एकं मनः एषा-मेकादशानां हीनमिथ्यातियोगाः कालस्य च सर्वामयोत्पादकाः ज्ञेयाः॥ ११ ॥

भा. टी.—जो पृथिव्यादि पञ्चमहाभूतों को संकलन अर्थात् संगठ-नादि कर्म में प्रवृत्त या नियुक्त करता है, अथवा प्राणियों का संहार करता है, उसको काल कहते ह। या जो सूक्ष्म कलामात्र भी लय न हो उसको काल कहते हैं। उस काल के सूर्य व चन्द्र की गति विशेष से निमेष, काष्ठा, कला

मुहूर्त्त, दिन, रात्रि, पक्ष मास, ऋतु, अयन सम्वत्सर और युग इत्यादि विभाग होते हैं। उनमें लघु अक्षर उच्चारणमात्र काल का अक्षिनिमेष, पन्द्रह अक्षि निमेष की काष्ठा, तीस काष्ठा की कला, बीस कला का मुहूर्त , तीस मुहूर्त का एक दिन रात होता है। पन्द्रह दिन का एक पक्ष, वह पक्ष कृष्ण और शुक्ल भेद से दो प्रकार का होता है। दो पक्ष का एक मास होता है। इस तन्त्र में भाद्रपदादि दो २ महीने के क्रम से वर्षा शरद्, हेमन्त, वसन्त, ग्रीष्म और प्रावृट् ये ६ ऋतुयें होती हैं। ये ऋतुयें शरदी, गरमी, और वर्षात् के लक्षणोंवाली होती हुई दोषों के उपचय, प्रकोप, और शमन करनेवाली हैं। उनमें चन्द्रमा और सूर्य के काल विभाग से छहः २ महीने के दो अयन होते हैं। एक दक्षिणा-यन दूसरा उत्तरायण, वर्षा, शरद्, हेमन्त, इन ऋतुओं को दक्षिणायन कहते हैं। दक्षिणायन में चन्द्रमा विशेष बलयुक्त होता है और खट्टे, नमकीन तथा मधुर ये तीन रस बलवान् होते हैं। इस लिये प्राणियों के बल की इन ऋतुओं में उत्तरोत्तर वृद्धि होती रहती है। शिशिर वसन्त ग्रीष्म इन तीन ऋतुओं को उत्तरायण कहते हैं। इनमें सूर्य अत्यन्त या विशेष बलयुक्त होता है। इसमें तिक्त, कषाय तथा कटु रस बलवान् होते हैं। इसलिये क्रमशः उत्तरोत्तर प्राणियों के बल की हानि होती है।

दो अयनों का एक सम्वत्सर होता है। पाँच सम्वत्सरों का एक युग होता है। यह निमेष से युग पर्यन्त चक्रवत् भ्रमण करता हुआ कालचक्र कहा जाता है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस , और गन्ध ये पाँच महाभूतों के गुण, जो पाँचों ज्ञानेन्द्रियों के विषय कहे जाते हैं, इनको अर्थ कहते हैं। शरीर, वाणी , और मन की चेष्टारूप क्रिया को कर्म कहते हैं। ये कर्म पाञ्चों कर्मेन्द्रियों के विषय हैं। इन काल, अर्थ और कर्म के हीनयोग, मिथ्यायोग, तथा अतियोग ही रोगोंको को उत्पन्न करते हैं। (१) हीन प्रवृति को हीन योग कहते हैं। (२) मिथ्या प्रवृतिको मिथ्या योग कहते हैं। (३) अतिप्रवृति को अतियोग कहते हैं। पांच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ एक मन इन एकादशेन्द्रियों का और कालका हीन, मिथ्या, और अतियोग ही सम्पूर्णरोगों को उत्पन्न करनेवाला मुख्य कारण होता है यह समझना चाहिये ॥ ११ ॥

सू०—समयोगश्चारोग्यकरः ॥ १२ ॥

प्र. टी.——तेषां कालार्थकर्मणां सम्यक्योगैः, देश-बलवयः-कालयुक्ति-विचारसंयुक्तस्त्वारोग्यकरो दीर्घायुःप्रदश्च विज्ञेयः ॥१२॥

भा. टी.——उन काल अर्थ और कर्म का विधिवत् देश, बल, अवस्था, काल, युक्ति, और विचार से युक्त ठीक योग करना ही आरोग्य और दीर्घायुष्य का देनेवाला होता है ॥ १२ ॥

सू०—वायुः पित्तं कफश्चेति दोषाः ॥ १३ ॥

प्र. टी.——वायुःपित्तं कफ इति संक्षेपतस्त्रय एव शारीरदोषाः । यद्यपि साम्यावस्थायां देहधारणाद्धातव एव, परञ्च रसादिदूषण-पूर्वकमेषामेव विकारकरणे सामर्थ्यमितिदर्शनार्थं दोषसंज्ञया निर्दिष्टाः । तन्त्रान्तरे यद्रक्तस्यापि दोषत्वं दर्शितं तदसारमेव । यतः प्राधान्यादन्वर्थनामत्वाच्च वातादीनामेव दोषत्वम्, न रसादीनाम् । दूषयन्तीति दोषा इति वातादीनामेवानुगतार्था संज्ञा प्रवृत्ता । रसाद्यास्तु वातादिभिर्दूष्यन्ते । अतो रसादयस्सप्तदूष्याः । तन्त्रान्तरेऽपि ज्वराधिकारे वातज्वरोऽयं, पित्तज्वरोऽयं, श्लेष्मज्वरोऽयमिति पठितं, नतु रक्तज्वरोऽयमिति निर्दिष्टम् ? एवं यथा वातप्रकृतेः पितप्रकृतेः कफ प्रकृतेश्च लक्षणं दृश्यते, न तथा रक्त प्रकृतेः । येच रक्तजा विकाराः कुष्टविसर्पादयस्तेष्वपि घृतदग्धन्यायेन रक्तस्थैर्वातादिभिर्दोषैर्जातो रक्तजोऽयमित्युच्यते । अन्यथा रसादीनां सप्तानामेव दोषत्वं कथं न स्यात् अतः समासतो वातादयस्त्रयएव दोषाः, न रक्तम् । विस्तरतस्तु संसर्ग सन्निपात क्षय वृद्धयादिभेदैः कल्प्यमाना बहवो दोषाः सम्भवन्ति ॥ १३ ॥

भा. टी.—वायु पित्त और कफ ये संक्षेप से तीन ही दोष हैं। यद्यपि साम्यावस्था में ये दोष नहीं होते। देह धारण करनेवाले होने से, धातु संज्ञावाले होते हैं। परन्तु रसादि सात धातुओं को दूषित कर विकार उत्पन्न करने की सामर्थ्यवाले ये ही हैं, यह दिखाने के लिये वातादि तीनों की ही दोष संज्ञा है।

यद्यपि किसी २ ग्रन्थकारने रक्तको भी चौथा दोष माना है परन्तु यह निस्सार है। क्योंकि प्रधानता से दूषणकर्त्ता धर्म को इनमें ही सार्थकता होने से वातादि तीनों में ही दोषत्व है, रसादि धातुओं में नहीं। दूषण करनेवाला होने से ही ये दोष कहे जाते हैं। यह वातादिकों में ही अनुगतार्थ संज्ञा प्रवृत्त है। रसादिक तो वातादिक से दूषित होते हैं, इस लिये रसादि सातों दूष्य कहे जाते हैं। और ग्रन्थों में भी जैसे यह वातज्वर है, यह पित्तज्वर है, यह कफज्वर है, यही कहा गया है। यह रक्तज्वर है यह कहीं भी नहीं कहा गया है। ऐसे ही जैसे वातप्रकृति के पित्त प्रकृति के लक्षण कहे हैं, वैसे कहीं रक्त प्रकृति के लक्षण नहीं कहे। जो भी कहीं कुष्ट विसर्पादि रक्तजनित विकार कहे हैं, उनमें भी वातादिकों से दूषित रक्त से ही वह रोग होता है, अथवा रक्तस्थ वातादि दोषों की विकृति से ही वह रक्तजव्याधि उत्पन्न हुई ऐसा सिद्ध होता है। अन्यथा रसादि सात धातुओं को भी दोष क्यों न माना जाय। ये सभी दूषित होकर विकार कारक हो जाते हैं। इस कारण संक्षेप से वातादि तीन ही दोष हैं रक्त नहीं। और विस्तार से तो संसर्ग, सन्निपात, क्षय, वृद्धि, आदि भेदों से कल्पना किये जा कर बहुत से दोष हो सकते हैं। ॥ १३ ॥

सू०–रसासृङ्मांसमेदोऽस्थिमज्जाशुक्राणि धातवो दूष्याश्च ॥ १४ ॥

प्र. टी.—अत्र रसो रक्तं मांसं मेदो अस्थि मज्जा शुक्रं, एते सप्त धातवः। देहधारणाद्धातवः। वातादिभिरेते दूष्यन्तेऽतएव दूष्याः। एषामुत्पत्तिक्रमः आहारस्य सारो रसः, "रसाद्रक्तं, ततो मांसं, मासान्मेदः प्रजायते। मेदसोऽस्थि ततो मज्जा, मज्जायाः

शुक्रसंभवः।" एते सर्वे पित्ततेजसा पाचिताः सप्त धातवो जायन्ते। त एव दोषैर्दूषिताः दूष्याइति संज्ञां लभन्ते। एते सप्तधातवोदूष्याश्चेति ज्ञेयाः ।। १४ ।।

भा. टी.—शरीर म रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा, शुक्र ये सात धातुएँ कही जाती हैं। देह को धारण करने से ये धातुएँ कही जाती हैं। और ये ही सात धातुएँ वातादि तीन दोषों से दूषित होने के कारण दूष्य भी कही जाती हैं। अर्थात् इनको धातु और दूष्य कहते हैं।

आहार का शुद्ध सारभूत द्रव, रस होता है। उस रस से रक्त, रक्त से मांस, मांस से मेद, मेद से अस्थियां, अस्थियों से मज्जा, मज्जा से शुक्र, ये धातुए क्रमशः पित्त के तेज से परिपक्व होकर और शुद्धवात से विभक्त या परिणत होकर कफ से स्नेह भाव को प्राप्त होते हुये, सात धातुएँ बनती हैं, वे ही धातुएँ दोषों से दूषित होने पर दूष्य कही जाती हैं। इस लिये इन सातों को धातु भी कहते हैं और दूष्य भी कहते हैं ।। १४ ।।

सू०—मूत्र शकृत् स्वेदादयश्च मलाः ॥१५॥

प्र. टी.—मूत्रशकृत्स्वेदकर्णमलदन्तमल जिह्वामलादयो मला विज्ञेयाः। चकाराद्दूष्याः अपि। न केवलं रसादयो धातवः एव दूष्याः, किन्तु यावन्मलास्तेऽपि धात्वादिभिर्दूष्यन्ते इति। यथा रसादिधातूनां धातुसंज्ञा, दूष्यसंज्ञाच, तथा मूत्रादीनां मल संज्ञा दूष्य संज्ञा चेति ।। १ ।।

भा. टी.—मूत्र-शकृत्, स्वेद, कर्ण, दन्त, जिह्वा, आदि के मैल मल कहलाते हैं। चकार से ये दूष्य भी हैं। केवल रसादिधातुएँ ही दूष्य नहीं, किन्तु जितने मल हैं वे भी धात्वादिकों से दूषित होते हैं। जिस प्रकार रसादि धातुओं को धातु संज्ञा और दूष्य संज्ञा है, उसी प्रकार मूत्रादिकों की भी मल संज्ञा और दूष्य संज्ञा हैं ।। १५ ।।

सू०–वृद्धाः क्षीणाश्च व्याधिकराः ॥ १६ ॥

प्र. टी.—दोषाः वातपित्त कफाः, धातवः रसासृङ्मांस मदोऽस्थि मज्जाशुक्राणि, मलाः मूत्रादयः, स्वसाम्यावस्थातो वृद्धाः वृद्धिगता, क्षीणाः न्यूनतां गताश्च व्याधिकराः विज्ञेयाः । वृद्धिः-पुनरेषां स्वयोनिवर्द्धनाभ्युपसेवनाद्भवति । क्षयस्तु अतिसंशोधनाति संशमनवेगविधारणासात्म्यान्नमनस्तापव्यायामानशनातिमैथुनादिभिर्भवति । प्रवृद्धाः स्वं स्वं लिंग विशेषं दर्शयन्ति । क्षीणास्तु स्व लिंगं विजहति। तत्र वृद्धाः संशोधनसंशमनै र्ह्रासयितव्याः क्षीणाश्च स्वयोनिवर्धनोपयोगैर्वर्द्धयितव्याः । समास्तु रक्षणीया इति च शब्दाद्बोध्यम् ॥ १६ ॥

भा. टी.—वात, पित्त, कफ ये दोष,–रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि मज्जा, शुक्र ये धातु,–और शकृत्, मूत्रादि मल–अपनी साम्यावस्था से बढे हुये, या क्षीण हुये, व्याधिको उत्पन्न करने वाले होते हैं। अपने समान गुण, स्वभाव वाले आहार विहारादिकों से इन की वृद्धि होती है । और अत्यन्त संशोधन संशमन, मल मूत्रादि के वेगों को रोकना, आसात्म्य सेवन, मनःसन्ताप अतिव्यायाम, अनशन, और अति मैथुनादि से ये क्षीण होते हैं। बढने पर ये अपने २ विशेषलक्षणों को दिखाते हैं, और क्षीण होने पर अपने लक्षणों को त्याग देते हैं।

इनमें जो क्षीण हों उनको, समानगुण धर्म स्वभाववाले तथा क्षीण धात्वादिकों को बढाने वाले द्रव्यों के उपयोग से बढ़ाना, और जो बढ़े हुये हों उनको संशोधन संशमनादिकों से क्षीण या ह्रास करना चाहिये। जो धात्वादि साम्यावस्था में हों उनको सर्वदा समान अवस्था में रखना चाहिये । यह अर्थ सूत्र में पढ़े चकार से समझना चाहिये ॥ १६ ॥

इति प्रथमोऽध्यायः

द्वितीयोऽध्यायः

सू०—रूक्षो लघुः शीतः खरः सूक्ष्मश्चलो वायुः ॥ १ ॥

प्र. टी.—वा गतिगन्धनयोरिति धातोरसृग्दरादिभ्य इत्यादि सूत्रोत्पन्ने क्त प्रत्यये वात इति रूपं भवति । वातीति वायुः। स च रजोगुणमयःरूक्षो लघुःशीतः खरः सूक्ष्मश्चलश्चेत्ति षडिमे वातगुणा भवन्ति । यद्यपि अनुष्णाशीतो वायुरिति कणभक्षाक्षचरणादिभिः पठितम्, इह योगवहानुज्ञानादनुष्णाशीत एव । यथा "दाहकृत् पित्तसंयुक्तः शीतकृच्छ्लेष्म संश्रयात् ।" परञ्च तस्य योगवाहित्वेऽपि पित्तेन सह तावन्मात्र दाहोदयात् स्वाभाविकं शैत्यं न विनश्यति । तथा चोष्णोपायैश्चोपशाम्यति इति प्रतिप्रत्त्यर्थं शीतगुणवर्णने प्रयोजनम् ।

सच द्विविधः, आभ्यन्तरो बाह्यश्च । तत्राभ्यन्तरो यन्त्र तन्त्र धरः प्रस्पन्दनोद्वहन पूरण विवेक धारण लक्षणो वायुः प्राणोदानसमानव्यानापानात्मा, "प्राणोवायुर्वसतिहृदयेऽपान संज्ञोगुदेवै । नाभेश्चक्रं भ्रमति परितो जीवभूतः समानः ।। कण्ठस्थाने चलतिपवनो योऽन्हिरात्रावुदानः, सर्वाङ्गेषु प्रसरति मरुतो व्यान संज्ञो नितान्तम् ।" प्राणो नाम वायुरन्नमन्तः प्रवेशयति प्राणांश्चावलम्बते। उदानेन भाषितगीतादि विशेषोऽभिवर्तते । समानस्तु आमपक्वाशय चरोवह्निसंयोगादन्नं पाचयति, तज्जाँश्च विशेषान् विविनक्ति । अपानस्तुशकृन्मूत्रशुक्रगर्भार्तवादीन्यधः क्षिपति समये । व्यानो वायुः कृत्स्नदेहचरो रससञ्वहनोद्यतः स्वेदासृक्स्रावणः प्रसार-

णाकुञ्चन विनमनोन्नमन तिर्यग्गमनानि करोति । प्रवर्तकश्चेष्टानामुच्चावचानां नियन्ता प्रणेताच मनसः । सर्वेन्द्रियाणामुद्योतकः, सर्वेन्द्रियार्थानामभिवोढा, सर्वशरीरधातुव्यूहकरः, शरीरस्य सन्धान करः, प्रवर्तको वाचः, स्पर्शशब्दयोः प्रकृतिः, श्रोत्रस्पर्शनयोर्मूलम्, हर्षोत्साहयोर्योनिः, समीरणोऽग्नेः, दोष संशोषणः, क्षेप्ता बहिर्मलानाम्, स्थूलाणुस्रोतसां भेत्ता, गर्भाकृतीनां कर्ता, अनुवृतिप्रत्यय भूतः आयुषः शरीरे सर्वकार्यसाधकः प्रकृतिस्थः ।

बाह्यस्य च वायोः प्रकृति भूतस्य लोके चरत इमानि कर्माणिभवन्ति । यथा धरणीधारणम् ज्वलनो ज्वालनम्, आदित्यचन्द्रनक्षत्रग्रहगणानां सन्तानगतिविधानम्, सृष्टिश्च मेघानाम्, अपां विसर्गः, स्रोतसां संप्रवर्तनम्, पुष्पफलानाञ्चाभिनिर्वर्तनम्, उद्भिज्जानां मुद्भेदनम् । ऋतूनां प्रविभाजनम्, धातूनाञ्च प्रविभागमान संस्थान व्यक्तिः, बीजाभिसंस्कारः, शस्यादि वर्धनम्, प्रजापालनम्, विकासनमवैकारिकाणामन्येषां च भावानाम् ।। १ ।।

भा. टी.—वा गतिगन्धनयो इस धातु से असृग्दरादिभ्य इस सूत्र द्वारा क्त प्रत्यय होने पर "वात" यह रूप सिद्ध हुआ । स्वभावसे ही गमन करनेवाला होने से इसको वायु कहते ह । यह वायु रजोगुणमय है, तथा , रूक्ष, लघु, शीत खर, सूक्ष्म और चल ये छः वायु के गुण हैं । यद्यपि गोतमादिकों ने वायु को अनुष्णाशीत" अर्थात् न शीत न उष्ण माना है, और हमारे शास्त्र में भी योग वाही प्रतीत होने से शीत ही कहा गया है । जैसे वायु पित्त के संयोग से दाह करने वाला और कफ के संयोग से शीत करने वाला होता है । परन्तु उसके योगवाही होते हुये भी कुपित पित्त के संयोग से उतनी ही देर मात्र अर्थात् कुपित काल तक । दाह होने से वायु की स्वाभाविक शीतता नष्ट नहीं होती । तथा उष्ण उपायों से वायु का शमन होता है । इसलिये भी वायु को शीत गुणवाला वर्णित किया गया है ।

यह वायु दो प्रकार का है, एक आभ्यन्तर और दूसरा बाह्य । उनम से आभ्यन्तर वायु शरीर और उसके सभी अंग प्रत्यंगों को धारण करनेवाला, प्रस्पन्दन, उद्वहन, पूरण, विवेचन, और धारण इन लक्षणों वाला है । तथा प्राण, उदान, समान, व्यान और अपान, इन पञ्चात्मक संज्ञाओं को धारण करता है । उनमें प्राणवायु हृदय में रहता है । अपान मलाशय में रहता है । समान वायु नाभिचक्र के चारों ओर भ्रमण करता है । उदान कण्ठस्थान में हर समयगमन करता है, और व्यान सम्पूर्ण देह में व्यापक रहता है ।

इन में प्राणनामक वायु भुक्तान्नपान को भीतर ले जाता है, और प्राणों की रक्षा करता है । उदान वायु वाणी और गीतादिकों का प्रवर्तक है । समान वायु आमाशय और पक्वाशय में गमन करता हुआ जठराग्नि के संयोग से अन्नको पचाता है तथा उससे उत्पन्न हुये रसादि धातुओं की विवेचना करता है । अपानवायु मल मूत्र शुक्रगर्भ और मासिक ऋतु आदिको उनके समय पर बाहर निकालता है । व्यान वायुसम्पूर्ण देह में गमन करता हुआ रसको वहन करता है, स्वेद और रक्त स्रावण करनेवाला है, तथा प्रसारण, आकुञ्चन, विनमन, उन्नमन, और तिर्यग्गमन आदि क्रियाएँ करता है ।।

वह शुद्ध वायु सम्पूर्ण शरीर की ऊंची नीची चेष्टाओं का प्रवर्त्तक, मनका नियन्ता, और उसका प्रणेता, सब इन्द्रियों का उद्योतक, सब इन्द्रियों के शब्द स्पर्शादि विषयों का वहन करनेवाला, सम्पूर्ण शरीर की धातुओं के व्यूह को रचनेवाला शरीर के तत्वों का सन्धान करने वाला, वाणी का प्रवर्त्तक, शब्द और स्पर्श की प्रकृति, श्रोत्र और स्पर्श का मूल, हर्ष और उत्साह का कारण, जठराग्नि को चैतन्य करनेवाला, शरीर के क्लेदादि दोषों का शोषण करने वाला, मलों का उचित समय पर निष्कासन करने वाला, सूक्ष्म और स्थूल स्रोतों का भेदन करने वाला, गर्भ की आकृतियों को बनानेवाला, आयुका आधार स्वरूप तथा शरीर के सम्पूर्ण कार्यों को सिद्ध करने वाला है ।

बाह्य वायु यदि प्रकृतिस्थ हो तो संसार में गमन करता हुआ इन कर्मों को करता है । जैसे पृथ्वीका धारण करना, अग्निको चैतन्य करना, सूर्य-चन्द्र, नक्षत्र ग्रहादिकों की उदयास्त गति का विधान करना, मेघों को रचना, जल-

वर्षाना, स्रोतों को प्रवृत्त करना, पुष्पफलादिकों का निर्माण, या प्रकट करना, उद्भिज्ज–(इन्द्रगोपगण्डुपदादि) को प्रकट करना, वसन्तादि ऋतुओं का क्रमशः विभाग करना, स्वर्णादि धातुओं का विभाग, मान, संस्थापन, व संस्थान, आदि को प्रकट करना, बीजों के संस्कार खेती का बढाना, प्रजा का पालन करना तथा सम्पूर्ण विकार हित भावों को उत्पन्न करना आदि ॥ १ ॥

सू०–समानैराप्यायनं प्रकोपनश्चास्य ॥२॥

प्र. टी.––वायोरतिबलत्वेनाशुकारित्वेन च गरीयष्ट्वात्पूर्वं वातप्रकोपकारणानि व्याख्यास्यामः। तस्य वायोः समानगुण-प्रभावैर्द्रव्यैः कर्मभिश्चाभ्यस्यमानैः आप्यायनं वृद्धिः प्रकोपनञ्च। व्याधिपदसामानाधिकरण्याद्विकृतो दुःखकारिवातो व्याधिरूपएव। अत्र वातप्रकोपनानि, रूक्ष-शीत-लघु-खर-दारुण-विशद-सुषिर करा-णि, तथा विधेषुशरीरेषु वायुराश्रयं प्राप्याप्यायमानः प्रकोपमा-पद्यते। एवमेव वयोऽहोरात्रिभुक्तान्ते प्रावृट्काले च स्वाभाविकं प्रकोपनम्भवति। यथाह-त्रिजटाचार्यः –– –

व्यायामादपतर्पणात्प्रपतनाद्भङ्गात्क्षयाज्जागरात्,
वेगानाञ्चविधारणादतिशुचः शैत्यादतित्रासतः।
रूक्षोक्षौभकषायतिक्तकटुकैरेभिः प्रकोपंव्रजे–
द्वायुर्वारिधरागमे परिणतेचान्तेऽपराह्णेऽपि च ॥

इत्यादीनि कारणानि वातव्याधिकराणीति च। अनेनैव च सर्ववातव्याधीनां निदानकल्पनाज्ञानञ्च संभवति। बाह्य वातस्य चाधर्मेण प्रकोपनम्भवति ॥ २ ॥

भा. टी.––वायु शीघ्रकारी और अतिबलवान् होने से सब दोषों में बड़ा है। इसलिये पहिले वायु प्रकोपक द्रव्यों का विवेचन किया जाता है।

समान गुण प्रभाववाले द्रव्यों और कर्मों के अभ्यास से वायु की वृद्धि और कोप होता है। व्याधिपद समानाधिकरणता से विकृत वात अर्थात दुःख कारी वात ही वातव्याधिके नाम से कहलाता है। अब वायु प्रकोपक कारणों का विवेचन कर रहे हैं। जैसे–रूक्ष, हल्के, शीतल, खर, कठोर, विशद, और सुखाने वाले आहार विहार करने से वातप्रधान शरीरों में वायु आश्रय पाकर बढता हुआ प्रकोप को प्राप्त होता है। इसी प्रकार वृद्धावस्था में, दिन के अन्त में, रात्रि के अन्त में, भोजन के पच जाने पर, प्रावृट् ऋतुमें वायुका स्वाभाविक प्रकोप होता है। जैसा त्रिजटाचार्य ने कहा है। व्यायाम से, अपत-र्पण से, गिरने से, चोट लगने से, क्षय से अधिक जागने से, मलमूत्रादि वेगों को रोकने से अतिचिन्ताकरने से शीत लगने से, या शीतल पदार्थों का अधिक सेवन करने से, भय से, क्षोभसे, रूक्ष, कषाय, तिक्त, कटु, पदार्थों के सेवन से, आषाढ श्रावण में, अन्न परिपाक के अनन्तर, और सायंकाल में वायु का प्रकोप होता है। उपर्युक्त सभी कारण वातिक व्याधियों को उत्पन्न करनेवाले होते हैं। इनसे सब प्रकार की वातव्याधियों के निदान की कल्पना की जा सकती है॥

बाह्यवायुका प्रकोप मनुष्य के अधर्म आचरण से होता है ॥ २ ॥

सू०–प्रपीडयति च शरीरम् ॥ ३ ॥

भा. टी.—स वायुः आप्यायनं प्रकोपनञ्चासाद्य शरीरं देशञ्च प्रपीडयति। तत्राभ्यन्तरस्तुप्रकुपितः नानाविधैः विकारैः शरीरं पीडयति। बलवर्णसुखायुषमुपघातयति। सर्वेन्द्रियाणि सर्वेन्द्रियार्थांश्चोपघातयति, पर्वणां संकोचः, अस्थ्नां भङ्गः, रोम हर्षः, प्रलापः, पाणिपृष्ठशिरोग्रहः, एकाङ्गग्रहः, सर्वाङ्गग्रहः, खाञ्ज्यं, पागुल्यं, कुब्जत्वञ्च करोति। शोषोऽङ्गानाञ्च करोति।, तथा गर्भशुक्ररजो नाशञ्च करोति। विकृतिमापादयति, भय-शोक मोहदैन्यादीन् जनयति, एवं हेत्वादिभिः स्थानसंस्थान विशेषैश्च

नानाविधान् रोगांश्चोत्पादयति । यथा–"आध्मानस्तम्भरौक्ष्यस्फुटनविमथनक्षोभकम्पप्रतोदाः । कण्ठध्वंसावसादौ श्रमकविलपनं स्रंसशूल प्रभेदाः । पारुष्यं कर्णनादो विषयपरिणति भ्रंशदृष्टि प्रमोहाः विस्पन्दनोद्वट्टनानि ग्लपनमशयनं ताडनं पीडनञ्च । नामोन्नामौ विषादोभ्रमपरितपनं जृम्भणं रोमहर्षो, विक्षेपाक्षेप शोषग्रहणशुषिरताच्छेदनं वेष्टनञ्च । वर्णःश्यावोऽरुणो वा तृडपि च महती स्वाप विश्लेषसंगो, विद्यात्कर्माण्यमूनि प्रकुपित मरुतःस्यात् कषायो रसश्च ।" अत्र प्राणः कुपितः हिक्का, प्रतिश्याय–कासश्वास-स्वर भेदादिकान् गदान् करोति । उदानः प्रकुपितः उर्ध्वजत्रुगतान् मन्यास्तम्भादींश्च करोति । समानः प्रकुपितः गुल्माग्निसादातिसारप्रभृतीन् जनयति । व्यानस्तु सर्वदेहगान् व्याधीन् जनयति । अपानस्तु वस्तिमेहनगुदाश्रितान् कृच्छाश्मरीभगन्दरार्शादींश्च करोति । व्यानापानौ प्रकुपितौ शुक्ररोगान् प्रमेहांश्च कुरुतः ।

आमाशये प्रकुपितश्छर्दिपार्श्वोदरशूलहृत्स्तम्भतोदादिकान् पिपासामोहमूर्च्छादिकांश्च करोति । पक्वाशये प्रकुपितः अन्त्रकूजनशूलवेदनानाभौ त्रिक्वेदना मूत्रपुरीषविकृत्यादींश्च करोति । श्रोत्रादिषु क्रुद्धः इन्द्रियवधम् । त्वचि प्रकुपितो वैवर्ण्य,-स्फुरणं-रौक्ष्यंसुप्ति-तोदं त्वग्भेदञ्च करोति । रक्तगतः प्रकुपितो व्रणान् रक्तविकारांश्च । शिरागतः शिराकुञ्चनपूरणादीनि । स्नायुगतः प्रकुपितः स्तम्भकम्पौ, शूलमाक्षेपणञ्च । एवं यत्र प्रकुपितो गच्छति वायुस्तत्र स्तम्भनाक्षेपणस्वापशूलादीनिभवन्ति । यथा—"दाहसन्तापमूर्च्छाः स्युर्वायौपितसमन्विते । शैत्यशोफगुरुत्वानि तस्मिन्नेव कफावृते ।। एवं हेतुस्थानादि सम्यग्विचार्य वातव्याधेर्नामादि कल्पनीयमिति वातव्याधेर्निदानोपदेशः ।

बाध्यस्तु: प्रकुपितो वातः सागराणामुत्पीडनम्, सरसामुद्वर्तनम्, भूमेराकम्पनम्, अम्बुदानामाधमनम्, ऋतूनाञ्च व्यापादनम्, जनपदोध्वंसनम्, युगान्तकराणां मेघसूर्यानिलानाञ्च विसर्गं करोति।

यह वायु वृद्धि तथा प्रकोपावस्था को प्राप्त कर देश एवं शरीरका पीड़न करता है। इसमें से शरीरस्थ वायु के प्रकुपित होने पर वह अनेक प्रकार के विकारों से शरीर का पीड़न करता है। बल, वर्ण, सुख तथा आयुको विकृत व नष्ट करता है। सब इन्द्रियों एवं इन्द्रियों के शब्द स्पर्शादि विषयों को नष्ट करता है। सन्धियों का संकोच, अस्थियों का भङ्ग, रोम हर्ष, प्रलाप हाथों का जकड़ना, पीठ-का जकड़ना, शिरोग्रह, एकाङ्ग-ग्रह, सर्वाङ्गग्रह, खंजता, पंगुपन, कुब्जता, और अंगशोषादि को उत्पन्न करता है। गर्भनाश, शुक्रक्षय, तथा रजोनाश को करता है। इसी प्रकार अनेक प्रकार के विकार उत्पन्न कर देता है, । भय, शोक, दीनता आदि मनोविकार भी उत्पन्न करता है। इस प्रकार प्रकुपित वायु हेतु आदि स्थान संस्थान विशेष से अनेक प्रकारके रोगों को उत्पन्न करता है। जैसे-आध्मान, स्तम्भ, रुक्षता, देह स्फुटन, विमथन-क्षोभ, कम्प, प्रतोद, कण्ठध्वंस, अंगसाद, श्रम, विलाप, स्रंसन, शूल, भेद, पारुष्य, कर्णनाद, शब्दादि की विपरीतता, दृष्टिभ्रंश, मोह, विस्पन्दन, उद्वट्टन ग्लानि, निद्रानाश ताड़न, पीड़न, नमन, उन्नमन, विषाद, भ्रम, परिताप, जृंभा, रोमहर्ष विक्षेप, आक्षेप, शोष, अंगग्रह, शुषिरता, च्छेदन, वेष्टन, श्याव, वर्ण अरुणवर्ण, तृषा, अंगस्वाप, अंगविश्लेष, विबन्धादि रोग उत्पन्न करता है और मुख का स्वाद कषाय होता है।

इन में प्राणवायु प्रकुपित हुआ, प्रतिश्याय, कास, श्वास स्वर भेदादि रोगों को उत्पन्न करता है। उदानवायु प्रकुपित हुआ उर्ध्वजत्रुगत मन्यास्त-म्भादि रोगों को करता है। समान वायु प्रकुपित हुआ, गुल्म, अग्निसाद, अति-सार, आदि रोगों का जनक है। व्यान वायु प्रकुपित हुआ सर्व देहाश्रित ज्वरादि या सर्वाङ्गग्रहादि रोगों को उत्पन्न करता है। अपान वायु प्रकुपित हुआ वस्ति मेहन, और गुदाश्रित रोग, मूत्रकृच्छ्, पत्थरी, भगन्दर, अर्शादि रोगों

को करता है। व्यान और अपान दोनों मिल कर प्रकुपित होने पर शुक्ररोग और प्रमेहादि रोग उत्पन्न होते हैं।

यदि वायु आमाशय में प्रकुपित हो तो छर्दि, पार्श्वशूल, उदरशूल हृदय का स्तम्भ, तोद, प्यास, मोह, मूर्च्छादि रोगों को उत्पन्न करता है। पक्वाशय में प्रकुपित होतो अन्त्र कूजन, शूल, नाभी पीड़ा, त्रिकशूल मूत्रविकृति, मल विकृति, आदि रोगों को करता है। श्रोत्रादि इन्द्रिय स्थान में प्रकुपित हुआ इन्द्रियज्ञान (शब्दादि) का नाश करता है। त्वचा में प्रकुपित हुआ विवर्णता, स्फुरण, रूक्षता, प्रसुप्ति, तोद, त्वचा का फटना आदि रोग करता है। रक्त में प्रकुपित हुआ वायु, व्रण तथा रक्त विकारों को करता है। शिरा संज्ञक नाड़ियों में प्रकुपित हुआ शिराओं का संकोच और पूरण (हवासे फूलना) आदि रोग करता है। स्नायुगत कुपित वायु स्तम्भ, कम्प, शूल आक्षेप आदि रोग करता है।

जिस स्थान में प्रकुपित वायु जाता है उसी स्थान में आक्षेप प्रसुप्ति, और शूल आदि उत्पन्न हो जाते हैं।

यदि वायु पित्त से आवृत होतो सन्ताप, दाह और मूर्च्छा आदि रोग व लक्षण उत्पन्न करता है। यदि कफसे आवृत होतो शीतता सूजन और भारीपन आदि करता है।

इस प्रकार प्रकोप के हेतु और स्थानादि भली प्रकार विचार कर वातव्याधियों के नामादि की कल्पना कर लेना चाहिये। यह संक्षेप में सम्पूर्ण वातव्याधियों के निदान का उपदेश कर दिया है।

इसी प्रकार संसार गामी बाह्य वायु प्रकुपित होने पर समुद्रों को उत्पीड़ित करता है, सरों का उद्धवर्तन करता है, भूमिकम्पन, मेघों का प्रधमर्न, ऋतुओं में विकृति देश के नाशक रोग, युगान्त कारक मेघ, सूर्य, और पवन को उत्पन्न करता है॥ ३॥

सू०—विपरीतैश्चास्य प्रशमनम् ॥ ४ ॥

प्र. टी.—अस्य वायोर्विपरीतगुणप्रभावद्रव्यकर्मभिः प्रशमनम्भवति । यथा स्निग्धगुरूष्णश्लक्ष्णमृदुपिच्छलघनागुण-प्रभावैश्चद्रव्यैर्वातं शमयेत् । स्वाद्वम्ललवणरसयुक्तं सुस्निग्ध-मुष्णञ्च भोजनं, वातहरतैल मर्दनम्, स्नेहवस्तिश्च श्रेयस्करी वात-रोगिणाम् । आमरहिते केवलवातरोगे स्नेहाभ्यङ्गोपनाहलेपना-दीनि वातहराणि कर्माणि कारयेत् । तथा च तीक्ष्ण-स्निग्ध गुण कर्म प्रभावयुक्तैर्द्रव्यैर्घृततैलादिकान् साधयित्वा उपाचरेत्, वातरोगिणं यावत् प्रकृतिस्थो भवेदिति । चकारात् सामे कफावृत्तेवा वायौ पञ्चकोलसंसिद्धं पानान्नं देयम् । सामनिरामलक्षणानि । यथा—"वायुः सामो विबन्धाग्निसादतन्द्रान्त्रकूजनैः । वेदनाशोथ-निस्तोदैः क्रमशोऽङ्गानि पीडयेत् ॥ विचरेद्युगपच्चापि गृह्णाति कुपितो भृशम् । स्नेहाद्यैर्वृद्धिमाप्नोति सूर्यमेघोदयेनिशि ॥

निरामो विशदो रूक्षो निर्विबन्धोऽल्पवेदनः । विपरीत गुणैः शान्ति स्निग्धैर्याति विशेषत इति । तत्रनिरूपस्तम्भमन्या-धानकेन समीप संभविना अनाधारितं वायुं स्नेहैरादावेवोपाचरेत् । आमयुक्तन्तु एरण्डतैलेन रेचनं दत्वा त्रिकटुसंसिद्धैः पानादिभिः रूक्षस्वेदादिभिरुपाचरेदिति ।

बाह्यश्च धर्मानुष्ठानादिभिः प्रकृतिस्थापनम् ॥ ४ ॥

भा. टी.—उस प्रकुपित वायु का वायु से विपरीत गुणकारी द्रव्यों प्रभावों और कर्मों से प्रशमन होता है । जैसे स्निग्ध, गुरु, उष्ण, श्लक्ष्ण, मृदु, पिच्छल, घन, गुण प्रभाव वाले द्रव्यों से वायु का शमन करना चाहिये । मधुर, अम्ल और लवण रस युक्त, उष्ण स्निग्ध भोजन, वातनाशक तैल मर्दन, और स्नेह बस्ति क्रिया ये सब वात रोगियों को हितकारी होते हैं । आमरहित केवल वातरोगों में स्नेहपान, स्नेहाभ्यङ्ग उपानह स्वेद, वातनाशक लेप, प्रसे-

कादि वातहर कर्मों का प्रयोग करना चाहिये । तथा तीक्ष्ण उष्ण, स्निग्ध गुणकर्म प्रभाव वाले द्रव्यों से सिद्ध किये हुये घृत तैलों का प्रयोग तब तक करता रहे जब तक वायु प्रकृतिस्थ होकर मानव को स्वास्थ्य प्रदान करे ।

यदि साम कफावृत वायु हो तो घृत तैलों का प्रयोग न करे । पञ्चकोलादि से सिद्ध किये गये जल के द्वारा बनाये गये अन्नपानादि का प्रयोग करे । यहाँ साम और निराम वायु के लक्षण कहते हैं । जैसे सामवायु विवन्ध अग्निसाद, तन्द्रा अन्य कूजन, वेदना, शोथ, तोद शूलादि से अंगोंको पीडित करता है । आमयुक्त वायुकुपित हो बिचरण करता हुआ स्नेहादि प्रयोगों से वृद्धि को प्राप्त होता हैं । तथा प्रातः काल और मेघोदय के समय वृद्धि को प्राप्त होता है ।

निराम वायु, स्वच्छ, रूक्ष, अल्पवेदना वाला, विबन्ध रहित होता है स्नेहादि प्रयोग से शान्ति को प्राप्त होता है । उनमें जो वायु दूसरे दोष के आश्रय रहित, समीवर्ती दोष से धारित न हो, उसको आदि में ही स्नेह प्रयोग से जीते । आमयुक्त को एरण्ड तैल से रेचन देकर त्रिकटु से संसिद्ध अन्नपानादिकों से और रूक्ष स्वेदादिकों से उपचार करे । बाह्य वायुको तो धर्मानुष्ठानादि से प्रकृतिस्थ बनाना चाहिये ।। ४ ।।

सू०–लघु विस्रं सरं द्रवं सस्नेह तीक्ष्णोष्णं च पित्तम् ।। ५ ।।

प्र. टी.–तत्र पितं लघुः–,विस्रं (मत्स्यामगन्धि सदृशगन्धयुक्तम्) सरं सरणशीलं (व्याप्ति युक्तं) द्रवं द्रवगुण विशिष्टं, सस्नेहं किञ्चित् स्नेह युक्तं, तीक्ष्णं मन्दविपरीतं शीघ्रकारि उष्णञ्च, इमे सप्त पित्त गुणाः भवन्ति । तप सन्तापे इति सन्तापार्थकतप् धातोरिच् प्रत्यये तकारस्येत्वे,वर्णविपर्य्यये च कृते, तस्मात् क्त प्रत्यये पित्तमिति रूपं सिद्धम् । तच्च पित्तं शरीरे पाचकालोचक भ्राजक रञ्जक साधक भेदात्पञ्चधा शरीरं पालयत्यविकृतम् ।

यथा–"स्वाशये पाचकं पित्तमग्नि रूपं तिलोन्मितम् । भ्राजकं कान्तिदं यत्तु लेपाभ्यङ्गादि पाचकम् ।। रञ्जकन्तु यकृत्प्लीह्नोस्तद्वशं शोणितं व्रजेत् । आलोचक मुभौनेत्रे रूप दर्शन कारितत् ।। साधकं हृदये तिष्ठेन्मेधा प्रज्ञा करञ्चतत् ।। अत्र चरक:–"अग्निरेव शरीरे पित्तान्तर्गतः कुपिताकुपितः शुभाशुभानि करोति ।" सुश्रुतस्तु पित्तव्यतिरेकान्नान्योऽग्निरूपलभ्यते आग्नेयत्वात्, पित्ते दहन पचनादिष्वभिवर्तमानैरग्निवदुपचारः क्रियते । क्षीणे ह्यग्निगुणे तत्समानद्रव्योपयोगात्, अतिवृद्धे च शीतक्रियोपयोगात् आगमाच्च । ननु यदि पित्ताग्न्योरभेदस्तर्हि "कथं घृतं पित्त प्रशमनमग्नि दीपनञ्च । अजापयोमत्स्यादयश्च पित्त वृद्धि कुर्वन्ति नचाग्निदीप्ति कराः, दिवास्वप्नञ्च कफ प्रकोपनोऽप्यग्निशमनः, तथेदमपि कथं स्याद्विषमोवातेन, तीक्ष्णः पित्तेन, मन्दः श्लेष्मणेति । समदोषसमाग्निश्चेत्यादिकमपि कथं स्यात् अत्रोच्यते-नैष, दोषः, येनायमग्निः परमार्थतः पित्तादभिन्न एव सुश्रुतादिभिरङ्गी कृतः । परञ्च "क्रोधशोकश्रमकृतम् शरीरोष्मा शिरोगतम् । पित्तञ्च केशान पचति, पलितस्तेन जायते ।।" अत्र शरीरोष्मा अग्निः पिताद्भिन्न एव उक्तः । तथा च द्रवं स्निग्धमधोगञ्च पित्तं वह्निरतोऽन्यथा अत्र समाधीयते पञ्च पित्तान्तर्गत जठराग्नि वाचको वह्नी शब्दः । तच्च पक्वामाशय मध्यस्थं चतुर्विधमन्नपानं पचति, विवेचयति च दोष रस मूत्र पुरीषाणि । तत्रस्थमेव चात्मशक्त्या शेषाणां पित्त स्थानानां शरीरस्य चाग्निकर्मणा अनुग्रहं करोति तस्मिन्पित्ते पाचकोऽग्निरिति संज्ञा । यत्तु यकृत् प्लीहोः पित्तं तद्रसस्य राग कृदुक्तः तस्मिन् रञ्जको अग्निरिति संज्ञा । यच्च हृदयस्थं तदभिप्रार्थित मनोरथ साधन करम् । तस्मिन् साधकोऽग्निरिति संज्ञा । यच्च त्वचि, तदभ्यङ्ग परिषेकावगाहनावलेपनादीनां पक्ता छायानाञ्च प्रकाश-

कम् । तस्मिन् भ्राजकोऽग्निरिति संज्ञा । अत्र चिकित्सोपयोगि-पित्त लक्षणानि''पित्तमुष्णं द्रवं पीतं,नीलं सत्व गुणोत्तरम् । कटुतिक्त रसं ज्ञेयं विदग्धं चाम्लतां व्रजेदिति ।। नीलं सामावस्थायाम्, पीतं निरामावस्थायाम्, कटुरसं प्रकृतिस्थम्, विदग्धं विरुद्ध पाकोपपन्नम्, पुनरम्ल रसं विदग्धाजीर्णसंसृष्टमम्लरसं वा भवति, विदग्धं पित्तं अम्लपित्तरोगमिति केचित् ।। ५ ।।

भा. टी.—उनमें पित्त लघु, आम गंध युक्त, सरणशील, पतला होनेवाला किञ्चित् स्नेहयुक्त, तीक्ष्ण और उष्ण, इन सात गुणावाला होता है । तप संतापे इस सन्तापार्थक धातु से अच् प्रत्यय होने पर पकार को इत्व करके वर्ण विपर्यय कर तकार को द्वित्व कर देने से पित्त शब्द बनता है । वह पित्त शरीर में पाचक, आलोचक, रञ्जक, साधक, भ्राजक, भेद से पाँच प्रकार का होते हुये भी प्रकृतिस्थ होता हुआ शरीर का पालन करता है । जैसे अपने अग्न्याशय में अग्निरूप, तिल प्रमाण में जो पित रहता है उसको पाचक कहते हैं भ्राजक पित्त शरीर में कान्ति को देनेवाला, लेप और अभ्यंगादि को पचाता है । रञ्जक पित्त यकृत, और प्लीहा के बल से रसको रंगकर अर्थात् (रसका रञ्जनकर) रक्त बनाता है । आलोचक पित्त दोनों नेत्रों में रह कर रूप दिखाने का कार्य करता है । साधक पित्त हृदय में रहता हुआ मेधा व प्रज्ञा का निर्माण तथा विवर्धन करता है । चरक में कहा है अग्नि ही शरीर में पित्त के अन्तर्गत है, वह कुपित हुआ अशुभ और प्रकृतिस्थ हुआ शुभ करता है । सुश्रुत में प्रतिपादित है कि पित्तके अतिरिक्त और दूसरा कोई पदार्थ अग्नि नहीं किन्तु पित्त ही अग्नि है । क्योंकि अग्नि होने से ही पित्त में दहन पचनादि गुण होने से इसका अग्नि के समान ही उपचार करते हैं । अग्नि गुण क्षीण होने पर अग्निवर्धक द्रव्यों का उपयोग करने से, अत्यन्त अग्नि के बढ जाने पर शीत क्रिया का उपयोग किया जाता है । और शास्त्र मत से भी पित्त ही अग्नि है ऐसा सिद्ध होता है । यहां शंका की जाती है कि यदि पित्त और अग्नि में कोई भेद नहीं तो घृत पित्त प्रशमन करनेवाला होते हुए भी अग्नि-दीपक क्यों कहते हैं ? बकरीका दूध और मच्छली आदि पित्त बढाते हैं किन्तु अग्निका सन्दीपन नहीं करते, दिन में सोना कफ को कुपित करता

है और जठराग्नि का शमन करता है। इसके अतिरिक्त शास्त्र के इन वाक्यों का समाधान कैसे होगा, जैसे वाताधिक्य से विषमाग्नि होती है। पित्त से तीक्ष्णाग्नि, कफ से मन्दाग्नि और समदोषों से समाग्नि होती है। यहाँ कहते हैं, यह कोई आपत्ति नहीं, जिस कारण यह अग्नि परमार्थतः पित्त से अतिरिक्त नहीं है, यह सुश्रुतादिकों ने माना है परन्तु क्रोध, शोक श्रम से, उत्पन्न हुई शरीर की ऊष्मा, और पित्त शिर में पहुँच कर बालों को पकाती है तब वे सफेद हो जाते हैं। यहाँ पर शरीर ऊष्मा नामक अग्नि पित्त से भिन्न ही कही है। इसमें और भी प्रमाण हैं कि पित्त द्रव रूप स्निग्ध और अधोगामी होता है। अग्नि उससे पृथक् पदार्थ है। यहाँ समाधान किया जाता है :—पाँचों पित्तों के अन्तर्गतही जठराग्नि का वाचक वह्नि शब्द है। वह पक्वाशय और आमाशय के मध्य में रहता हुआ चतुर्विध भक्ष्य भोज्यादि अन्नपान को पाचन करता है और दोष, रस, मूत्र तथा मलका विवेचन करता है। एवं वहाँ पर स्थित ही अपनी शक्ति से शेष पित्त स्थानों का और शरीर का अग्निकार्य से पोषण करता है। इस पित्तको पाचकाग्नि कहते हैं। जो पित्त यकृत् और प्लीहा में रहता हुआ रस को रंजकर रक्त बनाता है उस पित्तको रञ्जकाग्नि कहते है। जो पित्त हृदय में रह कर अभिप्रार्थित मनोरथों को पूरा करता है उसको साधक अग्नि कहते हैं। जो पित्तत्वचामें रहकर, अभ्यंग, परिषेक, अवगाहन और लेपादिकों को पचाता है तथा छायाका प्रकाशक है उसे भ्राजक अग्नि कहते हैं।

पित्त, उष्ण द्रव, पीत नील, और सत्वगुण प्रधान है, इसके कटु और तिक्त रस हैं, यह विदग्ध होने पर खट्टा हो जाता है। इसमें नील वर्ण सामावस्था में रहता है, पीतनिरामावस्था में रहता है ऐसे ही कटु रस प्राकृतिक अवस्था में होता है, तथा विरुद्ध पाक होनेपर विदग्धहोकरखट्टा हो जाता है अथवा विदग्धाजीर्ण के संसर्ग से खट्टा होता है। कई विद्वान् विदग्ध पित्त को अम्लपित्तरोग मानते हैं॥

सू०—समानैरेवपित्तप्रकोपनञ्च ॥ ६ ॥

प्र. टी.—पित्तस्यापि पित्तसमानगुणकर्मप्रभावद्रव्यैरभ्यस्यमानैः प्रकोपनं वृद्धिश्च भवति। यथा कट्वम्लोष्णविदाही तीक्ष्ण

लवणक्रोधोपवासातपः स्त्री संपर्क तिलातसी दधिसुराशुक्तारनालादिभिः । भुक्ते, जीर्यति भोजने च शरदि ग्रीष्मे सति प्राणीनां मध्यान्हे च तथार्धरात्रि समये पित्तं प्रकोपं व्रजेत् ।। ६ ।।

भा. टी.—पित्त का भी अपने समान गुण कर्म प्रभाववाले द्रव्यों के सेवन से तथा पितवर्धक विहार से वृद्धि और प्रकोप होता है । जैसे चरपरे, खट्टे, उष्ण, दाहकारी, तीक्ष्ण, नमकीन, पदार्थों के सेवन से । क्रोध, उपवास, धूप, स्त्रीसंग, तिल, अलसी, दधी, तीक्ष्णमद्य, सिरका, काञ्जी, आदि के सेवन से । भोजन परिपाक के समय, शरद्ऋतु में, ग्रीष्म में, मध्याह्न में, और आधीरात के समय पित का प्रकोप होता है । ।। ६ ।।

सू०—तत् प्रकोप एव पित्तव्याधिः ।।७।।

प्र. टी.—तत्पित्त प्रकोप एव व्याधिः । यद्यपि स्वतन्त्र रूपेण वायुरेवव्याधिकरो यथा चोक्तं सुश्रुते, दोषाणां विकृतवात एव रोग समूहजनकः। यथा "पित्तं पङ्गु कफः पङ्गुः पङ्गवो मलधातवः। वायुना यत्र नीयन्ते, तत्र वर्षन्ति मेघवत्" । परञ्च स्वकारणैः कुपित्तं पित्तं वातानुबलप्राप्तेऽपि वातभिन्नप्रकृतिकान् पित्तव्याधीन् जनयति । यथा—'विस्फोटाम्लक धूमकाः प्रलपनं, स्वेदस्रुतिर्मूर्च्छनम् । दौर्गन्ध्यं दरणं मदो विसरणं पाकोऽरति तृड्भ्रमः ।। ऊष्मा ऽतृप्तिः तमः प्रवेशदहनं कट्वम्ल तिक्ताः रसाः, वर्णः पीत हरिद्रता क्वथितता कर्माणि पित्तस्यवै । अत्र प्रकृतिस्थं कटुरसं, विदग्धमम्ल रसं निरामं तिक्तरसं जानीयात्, तथा च ऊष्मापित्तादृते नास्ति इति । एवं पित्तं वृद्धं मत्वा,रेचयेत्, इत्यादि वाक्यैः सर्वथा स्वतन्त्र एव पित्त व्याधिरिति पित व्याधिनिदानम् ।। ७ ।।

भा. टी.—उस पित्त के प्रकोप को ही पित्त व्याधि समझना चाहिये । यद्यपि स्वतन्त्र रूपसे वायु ही व्याधिकारक होता है ।। जैसा कि सुश्रुत में कहा है" सम्पूर्ण दोषों में विकृत वायु ही रोगसमूहों को उत्पन्न करता है । पित्तपङ्गु, कफ पङ्गु है, और सबमल तथा धातुएं पङ्गु हैं । उनको वायु जिस स्थान

पर ले जाता है उसी स्थान में ये जाकर विकार करने लगते हैं। जैसे मेघों की गति वायु के अधीन है वैसे ही पित्त कफादि भी वायु के द्वाराही ले जाए जाते हैं। परन्तु अपने कारणों से कुपित हुआ पित्त वात से अनुबल पाने पर भी वायु से भिन्न प्रकृति वाले पित्तरोगों को उत्पन्न करता है जैसे विस्फोटक अम्लपित, धूमोंद्गार, प्रलाप, स्वेदस्राव, मूर्च्छा, दौर्गन्ध्य दरण, मद, सरण पाक, अरति, प्यास, भ्रम, ऊष्मता, भस्मक, तमप्रवेश, दाह, इन स्वतन्त्र पित्त रोगों को उत्पन्न करता है। कटुअम्ल और तिक्त इसके रस होते हैं। पीत, हरित, क्वथित, ये इसके वर्ण होते हैं। इनमें प्रकृतिस्थ पित्त का कटुरस, विदग्ध अर्थात् विरुद्धपाक होने पर अम्ल, निराम प्रकुपित पित्त का तिक्तरस होता है। ऐसे ही शुद्ध पित्त का पीला और विकृत का हारिद्र तथा क्वथित सा वर्ण होता है। ऊष्मा पित्त के बिना नहीं होती। बढ़े हुये पित्त को जानकर रेचन करावे। इत्यादि वाक्यों से स्पष्ट है कि वात से भिन्न ही पित्त की स्वतन्त्रव्याधियाँ होती है। इस प्रकार पित्त व्याधियों के निदान को समझना चाहिये।

सू०– मधुरतिक्तकषायैः शीतैश्च पित्तं जयेत् ॥ ८ ॥

प्र. टी.–पित्तमपि विपरीत गुण धर्म कर्म प्रभावद्रव्यैः मधुरतिक्तकषायरसैः शीतैश्च आहार विहारादिभिर्जयेत्। अत्रापि सामं निरामं ज्ञात्वैव चिकित्सा विधेया। सामनिराम लक्षणानि। दुर्गन्धं हरितं श्यावं, पितमम्लं स्थिरं गुरुः। अम्लिका कण्ठ हृद्दाहकरं सामं विनिर्दिशेत्॥ निरामन्तु–आताम्रं पीतमत्युष्णंरसे कटुकमस्थिरम्। पक्वं विगन्धं विज्ञेयं रुचि पक्तृबलप्रदम्। एवं विज्ञाय सामन्तु पाचयेत् पूर्वं ततः शीतैरुपाचरेत्॥ ८॥

भा. टी.—पित्त को भी पित्त से विपरीत गुण, कर्म, स्वभाव, वाले द्रव्यों से तथा मधुर, तिक्तकषाय रसों से और शीतल आहार विहार क्रियादि से जीतना चाहिये। यहाँ पर भी सामता निरामता जानकर ही चिकित्सा

करनी चाहिये। साम और निराम के ये लक्षण हैं। पित्तका दुर्गन्धित, हरित, श्याव, अम्ल, स्थिर और भारी होना, खट्टीडकार, कण्ठ और हृदय में दाह होना ये सामपित्त के लक्षण हैं। ताम्रवर्णता, पीतता, अत्यन्त उष्णता, रस में कटुता और अस्थिरता तथा निर्गन्धिता ये निराम पित के लक्षण हैं। निराम-पित रुचिकारक और पाचनशक्तिको बढाने वाला होता है। ऐसे जानकर यदि सामपित्त होतो पहिले आमको पचाकर फिर शीतल क्रियाओं से शमन करे॥ ८॥

सू०—श्लक्ष्णोमृत्स्नः गुरुः मन्दः शीतः स्निग्धः स्थिरश्च कफः॥ ९॥

प्र. टी.—अत्र कफः—श्लक्ष्णः श्वेतोऽपरुषश्च, मृत्स्नो मृद्यमानोऽङ्गुलिग्राही, गुरु गुरुःत्ववानलघुः, मन्दः, तीक्ष्ण विपरीतश्चिरकारी शीतः शीतल स्वभाववाननुष्णः स्निग्धश्चिक्कणः, स्थिरोऽचलः लिप्तस्वभावो वा। अत्र श्लिष् आलिङ्गने धातोर्मनिनि प्रत्यये गुणेच कृते श्लेष्मेति रूपं जातम्। श्लेष्मा तमोगुण प्रधानो मधुरश्च। विदग्धस्तु लवणतां व्रजेत्। श्लेष्मापि क्लेदन अवलम्बन रसन-स्नेहन विश्लेषण इति पञ्चधाविभज्य देहं पालयति। यथा "आमाशयेऽथ हृदये, कण्ठे शिरसि सन्धिषु। स्थानेष्वेषु मनुष्याणां श्लेष्मा तिष्ठत्यनुक्रमात्। क्लेदनः, क्लेदयत्यन्नमात्मशक्त्या अपराण्यपि, अनुगृह्णाति च श्लेष्मस्थानान्युदककर्मणा॥ रस युक्तात्मवीर्येण हृदय-स्यावलम्बनम्। त्रिक संधारणं वापि विदधात्यवलम्बनम्। उभावपि ततः सोम्यौ तिष्ठतश्चान्तिके यतः। यतो रसान् विजानीतो रसना रसनौ समौ। स्नेहतः स्नेहदानेन समस्तेन्द्रियतर्पकः। श्लेष्मणः सर्व सन्धीनां संश्लेषं विदधात्यसौ। चकारात् श्लेष्मा श्वेतः मृदुस्थिरादि गुणयुक्तः, प्रकृतिस्थो मधुर रसः, प्रदुष्टो लवणो रस।

भा. टी.–श्लक्ष्ण, मृत्स्न, गुरु, मन्द, स्निग्ध और स्थिर इन छः गुणों वाला कफ होता है। इनमें परुषता रहित श्वेत को श्लक्ष्ण कहते हैं, और आम गन्ध के समान गन्ध वाले को मृत्स्न कहते हैं, गुरु आदिकों का अर्थ प्रसिद्ध ही है। यहाँ पर श्लिष् अलिङ्गने इस धातुसे मनिन् प्रत्यय होने पर, गुण करके श्लेष्मा यह रूप सिद्ध होता है। श्लेष्मा तमोगुण प्रधान और मधुर रसवाला होता है। विदग्ध होनेपर लवणता को प्राप्त होता है। श्लेष्मा भी, क्लेदन अवलम्बन, रसन, स्नेहन, और विश्लेषण इन पाँच प्रकार का होते हुये देहका पालन करता है। जैसे आमाशय, हृदय, कण्ठ, शिर और सन्धियों में श्लेष्मा रहता है। उनमें क्लदेन कफ, अपनी शक्तिसे आमाशय में रह कर अन्नका क्लेदन करता है और अन्य श्लेष्म स्थानों की उदक कर्म से सहायता करता है। अवलम्बन कफ, रस युक्त होकर हृदय में रहता हुआ अपनी शक्ति से हृदय-का अवलम्बन करता है और त्रिकस्थान को धारण करता है। क्योंकि रस और रसना दोनों जलीय हैं इस लिये रसना और रसन कफ दोनों एक ही स्थान में रहते हुये रसका ज्ञान करते हैं। स्नेहन कफ सम्पूर्ण इन्द्रियों को स्नेह दान से तृप्त करता है। संश्लेषण कफ, सम्पूर्ण सन्धियों को श्लेषित करता है। कफ श्वेतवर्ण, मृदु आदि गुणयुक्तवाला जानना चाहिये। प्रकृतिस्थ कफ मधुर होता है विदग्ध हुआ लवणता को प्राप्त होता है, यह चकार से समझना चाहिये ॥९॥

सू०–स्वयोनिवर्द्धक द्रव्यगुण कर्म प्रभावैश्च विवर्द्धनम् ॥ १० ॥

प्र. टी.–श्लेष्मणोऽपि समान गुणकर्मप्रभावद्रव्यैश्च विवर्धनं कोपनञ्च भवति। वृद्धिः समानैः सर्वेषामिति नियमः। यथा–"गुरुमधुररसातिस्निग्ध दुग्धेक्षु भक्ष्यद्रवदधिदिननिद्रापूप सर्पिः प्रपूरैस्तुहिनपतनकाले श्लेष्मणः संप्रकोपः, प्रभवति दिवसादौ भुक्तमात्रे वसन्ते।" गुरुमधुरादिद्रव्यैरभ्यस्यमानैः श्लेष्मा प्रकोपं प्राप्नोति। दिवसादौ हिमपतन समये वसन्ते भुक्तमात्रे च स्वाभाविकः कोपोभवति ॥ १० ॥

भा. टी.—स्वयोनिवर्धक द्रव्य, गुण, प्रभाव और कर्मों से कफ की वृद्धि और प्रकोप होता है। क्यों कि समान गुण कर्मों से सब की वृद्धि होती है यह नियम है। जैसे, गुरु, मधुर, रस, स्निग्ध, दूध, ईक्षुविकार, द्रवपदार्थ, दधि, दिन में सोना, पूड़े, घृत, घेवर आदि मिठाइयाँ, इनके अतिसेवन से कफ की वृद्धि तथा प्रकोप होता है, एवं हिम पड़ने के समय, प्रातः काल, भोजन करने पर और वसन्त ऋतु में कफ की वृद्धि और प्रकोप स्वभाविक ही होता है ॥ १० ॥

सू०—स एव रुजाकरः ॥ ११ ॥

प्र. टी.—सः कफ-प्रकोप एव रुजाकरः। तस्य कफस्य प्रकुपिता अवस्था एव व्याधिरिति। तत्प्रकुपितस्य कर्माणि।" तृप्तिस्तन्द्रा-गुरुत्वं स्तैमित्यं कठिनता मलाधिक्यम्, स्नेहापक्ति उपलेपाः शैत्यं कण्डूं प्रसेकश्च। चिरकर्तृत्वं शोथोनिद्राधिक्यं रसोपटुस्वादुः। वर्णश्वेतालसता कर्माणि कफस्य जानीयात्।"

एवं प्रकुपितस्य श्लेष्मणः देशकाल स्थान विशेषैः रोगविशेषं बलाबलञ्च प्रकल्पयेत् ॥ ११ ॥

भा. टी.—वह कफ प्रकोप ही दुःखकारक होता है। कफ की प्रकुपितावस्था ही व्याधि है। प्रकुपित कफ के ये कर्म होते हैं "तृप्ति (अन्नादि पर रुचि न होना) तन्द्रा, भारीपन, शरीर का मृदुत्वाधिक्य प्रतीत होना, काठिन्य, मलों आदि की अधिकता, चिकनाई की अधिकता, अन्नका परिपाक न होना, मुख में कफ लिप्त सा रहना, जाड़ा लगना, खाज होना, मुखमें लालास्राव होना, देर में काम करना या कफका परिपाकादि देर में होने से रोग का देर में बनना और देर में शमन होना, सूजन, निद्राकी अधिकता, मुख का स्वाद नमकीन या मीठा होना, नेत्रनख मूत्रादि सफेद वर्ण के होना, और आलस्य होना; ये कुपित कफ के कर्म या कफ रोगी के लक्षण समझने चाहिये। इस प्रकार कुपित कफ के देश काल भेद से रोग और उनके बलाबल की कल्पना करनी चाहिये ॥ ११ ॥

सू०—तीक्ष्णोष्ण रूक्षादिभिःकफम् ॥१२॥

प्र. टी.—तीक्ष्णैस्त्रिकट्वादिभिः उष्णैः उष्णौषधान्नविहारैः रूक्षैः, मध्वादिभिश्च श्लेष्माणं जयेत्। आदि शब्देन रुक्ष स्वेदादिभिर्जयेत् । अत्रापि दोष दूष्य देशबलादींश्च ज्ञात्वा चिकित्सां कुर्यात् । १२ ।

भा. टी.—प्रकुपित कफको अर्थात् कफ व्याधि को तीक्ष्ण त्रिकटु (सोठ मिर्च, पीपल,) आदि द्रव्यों से, उष्ण औषध, अन्न, विहारों से और मधु आदि रूक्ष पदार्थों से जीतना चाहिये । तथा बालुका स्वेदादि रूक्ष स्वेदों का प्रयोग करना चाहिये । यहाँ भी दोष दूष्य बल, अबल आदि विचार कर चिकित्सा करना चाहिये ॥ १२ ॥

सू०—द्वाभ्यां संसर्गश्च ॥ १३ ॥

प्र. टी.—अत्र संसर्ग स्त्रिधा । वात पित्ताभ्यां, वात कफाभ्यां, कफपित्ताभ्याञ्च । यत्र द्वयोर्हेतु लक्षण संसर्गस्तत्र द्विदोषजो व्याधि र्ज्ञेयः । परञ्चात्रापि दोष दूष्यबल कालादीन्, वृद्धि क्षयादिकञ्च विचार्य चिकित्सा कर्तव्या इति चकाराद्बोध्यम् ॥ १३ ॥

भा. टी.—संसर्ग तीन प्रकार से होता है । वातपित से, वातकफसे, और कफ पित्त से । जहां दो—दो दोषों के हेतु और लक्षण मिल जायें उसको द्विदोषज रोग समझना चाहिये । यहां पर भी दोष दूष्य बल, काल, दोषों की वृद्धि क्षय, दोनों दोषों के अंशोकी न्यूनता व अधिकता का विचार कर चिकित्सा करनी चाहिये ।

सू०—त्रिभिश्च सन्निपातम् ॥ १४ ॥

प्र. टी.—यत्र वातादीनां त्रयाणां हेतु लक्षण समवायो भवेत् तत्र सन्निपातं वदेत् । चकारात् त्रिदोषघ्नैर्जयेदिति सूत्रार्थः । अत्र शंक्यते यद्वातादीनां विभिन्न चयप्रकोप कालत्वेन युगपदवस्थानाभावात्संचयप्रकोपकालादीनां युगपदुदयस्थानाभावात्कथं संभूय

सन्निपातजरोगारंभकत्वम् । अत्र चेन्मन्यसे त्रिदोषकर निदान बलेन प्रकोपादेषां युगपदुपस्थितिः, तदपि न संभवति । सति निदानोपसेवनेऽपि विपरीत गुणैः परस्परमुपशमात्प्रकोपस्यानुपपत्तेः । अत्रोच्यते नखलु निखिल एव गुणो विपरीतः, समानस्यापि कतिपय गुणस्य सद्भावात् समानगुणेन हि दोषाणामन्योऽन्य प्रकोपः संभावी । यथा वायुः रौक्ष्य लाघव वैशद्यैः पित्तं प्रकोपयति । एवमेव पित्तमेभिरेव गुणैर्वातं प्रकोपयति । वायुः शैत्यात्कफं, कफोऽपि शैत्याद्वायुम् । द्रवत्वेन पित्तं च कफं, कफोऽपि पित्तमिति गुण सामान्यात् । विपरीत गुणस्तु भूयानल्पं समान गुणमभिभूय प्रशममेव कुतो न करोतीति न शंकनीयम् । "विपरीतैरपि नत्वेते गुणैर्घ्नन्ति परस्परम् । दोषाः सहज सात्म्यत्वाद्विषं घोरमहेरिव" । अथ च कर्मपिक्षया त्रिदोषकर द्रव्य प्रभावाद्दोषगुणान् दूषयन्ति परन्तु न शमयन्ति । यत्र चोक्तं,— तद्वद्दलासं वस्तिस्थं, रौक्ष्याद्घ्नन्ति सोऽनिलः" इत्यादिवचनैः सहज सात्म्य सत्त्वेऽपि दोषाणमन्योऽन्यमुपघाताभिधानान्नघ्नन्ति सर्वथा न विनाशयन्ति इति केचित् । मन्मते तु सर्वे दोषाः प्रकृतिस्था साम्यावस्थायां परस्परमनुग्रहं कुर्वन्ति देहञ्च धारयन्त्यविरोधित्वभावेन । परञ्च स्वस्थान भ्रष्टाः विकृताः कदाचित्कस्याञ्चिदवस्थायां परस्परं प्रकोपयन्ति, घ्नन्ति, विकृतिञ्चापादयन्तीति ।

सन्निपातज व्याधयः प्रायेण असाध्याः कष्टसाध्याः वा भवन्ति, तत्र दोष बलं ज्ञात्वा शीघ्रमेव चिकित्सा विधेया । इह खलु सन्निपात चिकित्सायां ज्वराधिकारेतु"श्लेष्मनिग्रहमेवादौ कुर्याद्व्याधौ त्रिदोषजे। निरस्तेश्लेष्मणिह्यस्य स्रोतःसूद्घाटितेषु च। लाघवं जायते सद्यस्तन्द्रा चैवोप शाम्यति" ।

एवमेव भोज :—"सन्निपातज्वरे सर्वं कुर्याद्दामकफापहम् । पश्चाच्छ्लेष्मणि संक्षिप्ते शमयेत्पित्तमारुतौ"—यत्रतु तन्त्रान्तरे

"शमयेत्पित्तमेवादौ, ज्वरेषु समवायिषु दुर्निवारतरं तद्धि, ज्वरार्तेषु विशेषतः । तत्र तु अवस्था विशेषं ज्ञात्वा एवं कुर्यात् । यथा सामे-त्रिदोषजे पूर्वं कफं जयेत् । आमपाकान्ते पित्तमेवादौ जयेत् । चिरजे त्रिदोष जे विषमज्वरे वात प्रधाने पूर्वं वातं जयेत्।यथा—ज्वरे त्रिदोषजे सामे शमयेत् कफमादितः । पाकान्तमागते पित्तं, चिरजे विषमेऽनिलम् । यत्र तु—वातस्यानुजयेत्पित्तं, पित्तस्यानुजयेत्कफम् । त्रयाणां वा जयेत्पूर्वं यो भवेद्बलवत्तमः । तत्राप्यवस्थायां चरितार्थं बलवत्तर दोषं पूर्वं जयेत् । सामे कफं, निरामे पित्तं, चिरजे विषमे वातमित्यभिप्रायः ।

अन्ये तु—वातस्यानुजयेत्पित्तमित्यादि श्लोकोऽतिसाररोगे चरितार्थ इति भणन्ति । अथ च —

"लंघनं बालुका स्वेदो नस्यं निष्ठीवनं तथा ।
अवलेहोऽञ्जनञ्चैव, प्राक् प्रयोज्यं त्रिदोषजे ।।
त्रिरात्रं पञ्च रात्रं वा, दशरात्रमथापि वा ।
लङ्घनं सन्निपातेषु, कुर्यादारोग्य दर्शनात् ।।
कफपित्ते द्रवे धातू, सहेते लंघनं महत् ।
आमक्षयादूर्ध्वमपि, वायुर्न सहते क्षणम् ।।

अत्र ज्वरेषु लंघनादीनि कर्माणि बालुकास्वेदनादीनि तु सर्वत्र त्रिदोषजे रोगे कुर्यात् ।। १४ ।।

भा. टी.—जहाँ पर, वात, पित, और कफ इन तीनों के हेतु और लक्षणों का सम्बन्ध हो वहाँ सन्निपात समझना चाहिये । अर्थात् तीनों दोष कुपित होकर, सम्मिलित हो, जिस रोग को करें, उसको सन्निपातज रोग समझना और चकार से त्रिदोषघ्न द्रव्यों द्वारा सन्निपात का शमन करे यह सूत्रार्थ होता है । यहाँ प्रश्न या शंका उत्पन्न होती है कि—वायु आदि के सञ्चयप्रकोप के काल भिन्न २ होने से एक काल में और एकही स्थान में तीनों की स्थिति नहीं हो सकती । ऐसे ही संचय प्रकोपकाल आदि एक समय में न होने से और तीनों

दोषों की उत्पत्ति स्थिति भी एक काल और एक स्थान में न होने से कैसे तीनों दोष मिल कर त्रिदोषज रोग को उत्पन्न कर सकते हैं। यहाँ यदि इस प्रकार कहें कि त्रिदोष कर हेतुओं के बल से एकही काल में इनका प्रकोप होकर एकही स्थान में स्थित हो रोग उत्पन्न करते हैं, यह भी नहीं हो सकता, क्योंकि त्रिदोष-कर हेतुओं के सेवन से भी विपरीत गुणों द्वारा परस्पर उपशम हो जानेसे त्रिदोष प्रकोप हो ही नहीं सकता। यहाँ कहा जाता है कि—सम्पूर्णत्रिदोषकारक निदान गुण विपरीत ही नहीं होते, परन्तु कुछ समान गुण भी उनमें विद्यमान रहते हैं। इसलिये समान गुण से ही दोषों का परस्पर प्रकोप हो सकता है। जैसे—वायु अपने रुक्षता, लघुता, और विशदता से पित्त को प्रकुपित करता है, इसी तरह पित्त इन्हीं गुणों से वायुको प्रकुपित करता है। वायु शैत्य गुण से कफ को और कफ शैत्य से वायुको, पित्त द्रवत्व से कफको और कफ भी द्रवत्व से पित्तको कुपित करता है। यह गुणों की समानता से होता है। विपरीत गुणों की अधिकता अल्प समान गुणों को बलपूर्वक शमन क्यों नहीं कर देती, यह भी शंका नहीं करनी चाहिये, क्योंकि वातादि दोष विपरीत गुणधर्म वाले होते हुये भी परस्पर एक दूसरे को नष्ट नहीं करते। जैसे साँप का विष साँप में रहते हुये भी सहज और सात्म्य होने से साँप को नष्ट नहीं करता। परन्तु कर्मापेक्षा से त्रिदोष कर द्रव्यप्रभाव, दोषगुणों को दूषित तो करता है किन्तु शमन नहीं करता, जैसा कि यहाँ कहा है—उसी समान वस्तिस्थ कफको अपनी रुक्षता से वह वायु नाश करता है" इत्यादि वचनों से सहज सात्म्य होते हुये भी दोषों का परस्पर उपघाताविधानसे एक दोष दूसरे दोष का सर्वथा विनाश नहीं करता "अर्थात् कुछ हानि अवश्य पहुँचाता है, यह किसी का मत है। मेरे मत में तो सब दोष प्रकृतिस्थ हुये साम्यावस्था में परस्पर एक दूसरे की रक्षा करते हैं, और अविरोधिभाव से देह को धारण करते हैं। परन्तु अपने स्थान से भ्रष्ट होकर विकृत दोष कभी किसी अवस्था में एक दूसरे को प्रकुपित करते हैं, हनन करते हैं, और विकृति को उत्पन्न करते हैं।

सन्निपातज रोग प्रायः असाध्य या कष्ट साध्य होते हैं, अतः उन्हें दोषों की गति जानकर सन्निपात की शीघ्रचिकित्सा करनी चाहिये। सन्निपात की चिकित्सा में ज्वराधिकार में कहा है कि—त्रिदोषजनित व्याधि में पहिले कफ को जीतना चाहिये। कफ के विरस्त होने पर रोगी के स्रोत खुल

जाते हैं और शरीर में हल्कापन आजाता है। तथा तन्द्रा आदि उपद्रव शांत हो जाते हैं। ऐसे ही भोज ने कहा है कि—सन्निपात ज्वर में सम्पूर्ण क्रियायें प्रथम आम और कफ को दूर करनेवाली करनी चाहियें। कफ के शमन होने पर पित्त और वायु का शमन करना चाहिये। यहाँ तन्त्रान्तर में कहा है कि सन्निपातों में पित्त अति दुर्निवार होता है और सन्निपात ज्वर में तो विशेषरूप से ही पित्त दुर्निवार होता है, वहाँ सन्निपात की अवस्था विशेष को जानकर ऐसा करना चाहिये। जैसे त्रिदोष ज्वर की सामावस्था में कफको जीतना चाहिये। आमका परिपाक होने पर प्रथम पित्त को जीतना चाहिये, और चिरोत्पन्न त्रिदोषज वात प्रधान विषम ज्वर में प्रथम वायु को जीतना चाहिये। जैसे कहा है कि -त्रिदोषज्वर की सामावस्था में प्रथम कफ को, परिपाकावस्थामें प्रथम पित्तको और चिरज विषमज्वर में प्रथम वायु को जीतना चाहिये जहाँ पर वात के पश्चात् या अनन्तर पित्तको जीते ऐसा कहा है, वहाँ भी यह वाक्य अवस्था विशेष में ही चरितार्थ है, अर्थात् साम में कफको, निराम में पित्त को, और जीर्ण या प्राचीन में वायुको, या तीनों दोषों, में जो अत्यन्त बढा हुआ हो उसको जीते। कोई कहते हैं।। "वातस्यानुजयेत्पितमित्यादि" श्लोक अतिसार रोग में चरितार्थ होते हैं।

सन्निपात में लंघन, बालुका स्वेद, लेखन नस्य (कायफलादि नस्य) निष्ठीवन (आर्द्रक रस मुख में रख थूकना) अवलेह (अष्टांगावलेहादि) आञ्जन (तन्द्रानाशक लेखनाञ्जन) ये प्रथम ही प्रयोग करने चाहिये। तीन दिन (वात प्रधान में) पाँचदिन (पित्त प्रधान में) और दशदिन (कफप्रधानमें) लंघन करावे। अथवा जबतक दोषों का क्षय होकर चैतन्य और हल्कापन प्राप्त हो तब तक लंघन करावे। पित्त और कफ तो द्रव धातु होने से लंघन अधिक भी सह सकते हैं, परन्तु वायु रूक्ष होने के कारण लंघन को आमक्षय के अनन्तर नहीं सह सकता। यह लंघन क्रम ज्वर में ही विशेष रूप से किया जा सकता है। और सन्निपात शूल या शोथादिकों में बालुका स्वेदादि क्रियायें ही हितकर होती हैं।। १४ ।।

इति द्वितीयोऽध्यायः

तृतीयोऽध्यायः

सू०–निदान पूर्व रूप रूपोपशयाप्तिभिश्च परीक्षेत ॥ १ ॥

प्र. टी.–आदौ रोगज्ञानार्थमेव यतेत । रोग ज्ञानानन्तरं हि चिकित्सारम्भो भवति । अतः रोग परीक्षणार्थं पञ्चधाज्ञानोपाया भवन्ति यथा निदानं, पूर्वरूपं,–रूपं-उपशय,: सम्प्राप्तिः। तत्र निदानं रोगोत्पादको हेतुः। येन लक्षणेन उत्पित्सुरामयो लक्ष्यते तत्पूर्वरूपम् । रूपन्तु रोगख्यापको हेतुर्व्यक्त इति । सुखानुबन्ध्याहाराद्युपयोगो-पशये व्याधिसात्म्याभिसंज्ञितः । एवं दुष्टेनैव (विसर्पता) एवं स्थान स्थितेनैवमनुगतेन इत्यादि प्रसार क्रमेण यद्रोगनिर्वृत्तिः यथाव द्रोगोत्पादनं क्रम विज्ञानं सा आप्तिः सम्प्राप्तिः । एते पञ्च समस्ता व्यस्ता वा व्याधिबोधकाः । अत्र समस्त पक्षे न कृतकरणत्वं प्रमाण-संप्लवस्यापि दृष्टत्वात्, अनुमितप्रमेये प्रत्यक्षोपमानशब्दानामपि स्थितिसत्वात् । भिन्न पक्षे एकेनापि प्रतिपादिते व्याधावपरेऽवश्य-मभिधातव्याः भिन्न प्रयोजनत्वात् । (१) तथा हि निदानाभावे कथं तत्परिमार्जनं भवेत् । यथा–संक्षेपतः क्रियायोगे निदान परिवर्जनम्, यथा मृद्भक्षणात्पाण्डु रोगः । अत्रमृद्भक्षणवर्जनं निदानज्ञानादेव। (२) तन्निदानं सन्निकृष्ट विप्रकृष्ट भेदेन द्विधा । कदाचिच्च प्रत्या-सन्नं निदानं बाधयित्वा विप्रकृष्ट हेतुकृतो दोष संचयो व्याधिं जनयती-त्यतो न केवलं निदानादेव सर्वत्र कार्यसिद्धिर्भवति, तत्र पूर्वरूपादेव रोगज्ञानम् । पूर्व रूप प्रयोजनन्तु यथा–"ज्वरस्य पूर्वरूपे लघ्वशनम-पतर्पणञ्च।" "वातज्वर पूर्वरूपे घृतपानम्" तथा च सर्वाणि पूर्वरूपाणि

अतिमात्रया यं विशन्ति तस्य मरणं विजानीयात्। चरकेऽप्युक्तम् —"हारिद्रवर्णं रुधिरं च मूत्रं विना प्रमेहस्य हि पूर्वरूपैः। यो मूत्रयेत्तं न्न वदेत्प्रमेहं, रक्तस्य पित्तस्य हि स प्रकोपः इत्यादि ज्ञानक्रिया सम्पादनार्थं पूर्वरूपस्याभिधानम्। (३) रूपज्ञानादेव साध्या-साध्यत्वं प्रतीयते। यथा सुखसाध्येऽल्प रूपाणि भवन्ति। कष्ट साध्ये मध्यरूपाणि। असाध्येतु सर्व सम्पूर्णं लक्षणानि भवन्ति। (४) एव-मनभिव्यक्तलक्षणे संकीर्णलक्षणे वा यत्र दोषविशेषबोधो न भवेत् तत्र चोपशयानुपशयाभ्यां परीक्षेत। यथाह चरकः—,,गूढलिङ्गं व्याधि-मुपशयानुपशयाभ्यां परीक्षेत। उपशयविपरीतोऽनुपशयः निदाना-न्तर्गतत्वादनुपशयस्य न षष्ठत्वापत्तिः। (५) निदान पूर्व रूप रूपादि प्रतीतस्यापि व्याधेरसत्यां सम्प्राप्तौ चिकित्सोपयोगिनो अंशांश-बलकालविकल्पनादिर्ज्ञानाभावाच्चिकित्सा-विशेषो न भविष्यति। तस्मान्निदानादयः पञ्चैव ज्ञातव्या एते पञ्च निदानशब्देनैवो-च्यन्ते। हेतु लक्षण निर्देशान्निदानानीति सुश्रुतः। निर्दिश्यते व्याधि-रनेनेति निदानम्। निश्चित्य दीयते प्रतिपाद्यते व्याधिरनेन वेति निदानम्। व्याधिनिश्चयकरणं निदानमिति। एवं दोष दूष्य देश-कालादि विचार्य चिकित्सा कर्तव्या इति चकारार्थः॥ १॥

भा. टी.—सर्व प्रथम रोग ज्ञान के लिये प्रयत्न करना चाहिये। रोगज्ञान के अनन्तर ही चिकित्सा का आरम्भ हो सकता है। इसलिये रोग की परीक्षा के पाँच उपाय होते हैं। जैसे -निदान, पूर्वरूप, रूप, उपशय, सम्प्राप्तिः। इनमें रोग के उत्पन्न करनेवाले हेतु को निदान कहते हैं। जिस लक्षण से उत्पन्न होने वाला रोग जाना जाता है उसको पूर्वरूप कहते हैं। जिस व्यक्त स्पष्ट लक्षण से रोग का स्पष्ट ज्ञान होता है उसको रूप कहते हैं। औषधान्न बिहार का सुखा-नुबन्धी उपयोग उपशय कहा जाता है, इसी को सात्म्य भी कहते हैं। जिस प्रकार दूषित हुये दोष उर्ध्व, अधः गमन करते हुये जिस स्थान में जिस प्रकार स्थित होकर जिस प्रकार जो रोग उत्पन्न करते हैं, इत्यादि प्रसार क्रमसे रोग

के अंशगति आदि पूर्वक यथार्थ ज्ञान को सम्प्राप्ति कहते हैं। ये पाँचों सब या एक दो या अलग २ व्याधि को जानने में कारण होते हैं ।।

यहाँ सब के पक्ष में किये हुये का फिर करना नहीं है । कहीं प्रमेय की सिद्धि में प्रत्यक्षादि सब प्रमाण भी प्रवृत्त होते हैं । जो प्रमेय अनुमान से जाना जाता है वहाँ प्रत्यक्ष, उपमान, और आप्तोपदेश भी रहते ही हैं ।

भिन्न पक्ष में एक से व्याधिज्ञान होने पर भी अन्य अवश्य जानने चाहिये क्योंकि इन पाँचों के अलग २ प्रयोजन हैं । (१) यदि निदान का ज्ञान नहीं होगा तो रोग के उत्पन्न करने वाले कारण का किस प्रकार प्रतिकार या निषेध होगा । जैसे कहा है—संक्षेप से रोग को दूर करने का उपाय निदान (कारण) को हटा देना ही है, जैसे मृत्तिका खाने से पाण्डु रोग होता है, यहाँ मिट्टी खाने का निषेध निदान ज्ञान से ही हो सकता है। (२) वह निदान सन्निकृष्ट और विप्रकृष्ट भेद से दो प्रकार का होता है । कभी कभी प्रत्यासन्न निदान को दबाकर विप्रकृष्ट हेतुओं से हुआ दोष संचय रोग को उत्पन्न कर देता है। इसलिये केवल निदान ही से कार्य सिद्ध नहीं हो सकता वहाँ पूर्वरूप से रोग जाना जाता है । यही पूर्वरूप का प्रयोजन है । जैसे वातजन्य ज्वर के पूर्वरूप में घृत पीना । ऐसे ही सन्निपात के सम्पूर्ण पूर्वलक्षण या पूर्वरूप बलवान् हो जिस रोगी में स्पष्ट उपस्थित होते हैं, उसकी मृत्यु अवश्य होती है —यह समझना चाहिये । चरक में भी कहा है कि—प्रमेह के पूर्वरूप के बिना हारिद्रवर्ण, रक्तवर्ण, फेनयुक्त जिसको मूत्र आवे उसको प्रमेह नहीं है, किन्तु रक्तपित्त का प्रकोप समझना चाहिये, इत्यादि ज्ञान और क्रिया सम्पादन के लिये पूर्वरूप की आवश्यकता है। (३) रूपज्ञान से ही साध्यासाध्य ज्ञान होता है, जैसे—सुखसाध्य व्याधि में व्याधि के रूप या लक्षण अल्पमात्रामें उत्पन्न होते हैं। कष्ट साध्य में मध्यम रूप होते हैं। सबके सम्पूर्ण लक्षण असाध्य रोग में होते हैं। (४) जहाँ रोग में वातादि दोषों के प्रकट लक्षण नहीं होते या भ्रमात्मक हों, और दोष ज्ञान न हो सके वहाँ उपशय और अनुपशयसे दोष ज्ञान करें। जैसे चरक में कहा है—गूढ लिंग व्याधि की उपशय और अनुपशय के द्वारा परीक्षा करें। उपशय से विपरीत अनुपशय होता है। पञ्चनिदान में इसको हेतु के अन्तर्गत होने से छठा नहीं माना गया । (५) निदान, पूर्वरूप,

रूप और उपशय के द्वारा जाने हुये रोग में भी सम्प्राप्ति के बिना चिकित्सा के उपयोगी, अंशांश और बलकाल विकल्पना का ज्ञान न होने से चिकित्सा की कल्पना ही नहीं हो सकेगी। इसलिये निदानादि पाँचों ही जानने चाहिये। ये पाँचों निदान शब्द से ही कहे जाते हैं। हेतु लक्षण के निर्देश से निदान कहे जाते हैं ऐसा सुश्रुत कहते हैं। अथवा इनके द्वारा व्याधि का निर्देश किया जाता है, इस लिये निदान कहते हैं। इससे निश्चय पूर्वक व्याधिका प्रतिपादन किया जाता है इस लिये इसे निदान कहते हैं। इस प्रकार दोष, दूष्य, देशकाल आदिका विचार करके ही चिकित्सा करनी चाहिये। यह चकार का अर्थ है ॥ १ ॥

सू०—दर्शनादिभिश्च ॥ २ ॥

प्र. टी.—दर्शनस्पर्शनप्रश्नैर्गन्धज्ञानादिभिश्च रोगिणं परीक्षेत। तत्र कासमेहाद्यार्तेषु पीत शुक्ल वर्ण संस्थान प्रमाणोपचयच्छायाविण्मूत्रच्छर्दितादिकं दर्शनेन दृष्टया परीक्षेत। ज्वर गुल्म शीतोष्णश्लक्षणखरनाड़ी स्पन्दनादिकं स्पर्शनेन परीक्षेत। प्रश्नेन तु शूला रोचक स्वप्न दर्शनाभिप्राय सुखदुःखान्यातुरमुखात्परीक्षेत। घ्राणेन इष्टानिष्टगन्धं, श्रोत्रेण च शब्दं फुफ्फुसोदर हृदयादीनाम्, पिपीलिकादिभिश्च रसं विजानीयात् ॥ २ ॥

भा. टी.—दर्शन, स्पर्शन, और प्रश्नों द्वारा तथा गन्धादि द्वारा रोगी की परीक्षा करे। कास, प्रमेहादि से पीडित मनुष्यों के पीत शुक्लादि वर्ण संस्थान, प्रमाण, उपचय, छाया, मल, मूत्र और छर्दित आदि द्रव्यों को देखकर परीक्षा करें। ज्वर गुल्म, शीतता, उष्णता, श्लक्ष्णता, खरता, नाड़ी गति, आदि हाथ से स्पर्श कर परीक्षा करे। शूल, अरुचि, स्वप्न, का अभिप्राय, सुख-दुःख, आदि रोगी के मुख से सुन कर परीक्षा करे। इष्ट गन्धर और अनिष्ट गन्ध जो स्वयं ही रोगी के समीप जाने पर प्रतीत होने लगती हैं, घ्राण द्वारा जाने। श्रोत्र द्वारा निर्बल सबल फुफ्फुस, हृदय, श्वास, उदर आदि की परीक्षा करे। और मल, मूत्र की मधुरता चीटियों के लगने से जाने या परीक्षा करे। इस प्रकार रोगी की परीक्षा करनी चाहिये ॥ २ ॥

सू०—द्रव्यं रसवीर्यविपाक प्रभावैश्च कर्म करोति ॥ ३ ॥

प्र. टी.——द्रव्यं खलु आत्मना, रसगुणवीर्य विपाक प्रभावैश्च दोषविवर्धनं कर्म,दोषप्रशमनं कर्म च करोति । आत्मना-द्रव्यमात्मना पार्थिवाप्यतैजसादि रूपेण दोषं हन्ति करोति वा। गुरुः स्निग्धस्तीक्ष्णो रूक्षो लघुरिति धराम्बुवन्हिवाय्वाकाशानां क्रमशो गुणाः, द्रव्यात्मनेत्यस्य पृथिव्यादि गुणैः कर्म करोतीत्यभिप्रायः । गुणास्तु—"गुरुर्लघुर्मन्दस्तीक्ष्णो हिम उष्णः स्निग्धो-रूक्षः श्लक्षणः खरः सान्द्रो द्रवो मृदुः कठिनः स्थिरः सरः सूक्ष्मः स्थूलो विशदः पिच्छिल इति पञ्चमहाभूत संसर्गात् विंशतिगुणाः ।" यथा स्निग्धादिभिर्वातं जयेत् । रूक्षोष्णैश्च कफम्, शीतैः पित्तम् । क्वचिद्रसेन यथा-मधुराम्ललवणाःवातं घ्नन्ति । क्वचिद्वीर्येण, वीर्यं द्विधा, उष्णं शीतञ्च । यथा बृहत्पञ्चमूलकषायं तिक्तानुरसं, वातं शमयेत्, उष्ण वीर्यत्वात् । मधुरश्चेक्षूरसो वातं वर्धयति, शीतवीर्यत्वात् । तिक्ताकाकमाची पित्तं वर्धयति उष्ण वीर्यत्वात् । अम्लंकपित्थं, मधुरञ्च क्षौद्रं कफं शमयति रूक्षवीर्यत्वात् । क्वचिद् विपाकेन । विपाकस्तु त्रिधा । यथा—मधुरः, अम्लः कटुकः अत्र मधुराज्जायते श्लेष्मा। अम्लात्पित्तम् । कटुकाद्वायुः । द्रव्याणां परिणामकाल भावी, कार्यानुमेयो जाठराग्निसम्बन्धात् रसस्य स्वरूपान्तरप्रादुर्भावो विपाकः । सच मधुरलवणयोर्मधुरः । अम्लस्याम्लः । कटुतिक्तकषायाणां कटुकं इति । क्वचित्प्रभावेण, यथा सहदेवी जटाशिरोबद्धात्र्याहिकं ज्वरं हन्ति । द्रौणपुष्पी रसः नेत्रयोरञ्जनात् चातुर्थिकं ज्वरं हन्ति। एवं द्रव्यं तदाश्रिता रसादयश्च, क्वचित् समस्ताः क्वचिद् व्यस्ता वा पालनं, प्रकोपनं प्रशमनञ्च कुर्वन्तीति भावः ॥ ३ ॥

भा. टी.––द्रव्य ही अपनी शक्ति से (आत्मशक्ति से) तथा रस, गुण, वीर्य, विपाक, और प्रभाव से दोषविवर्धन या दोष प्रशमन रूप कर्म करता है। यहाँ आत्मशक्ति से पार्थिव जलीय, तैजस, आदि रूपसे दोष का हनन या विवर्धन करना प्रयोजन है। गुरु, स्निग्ध, तीक्ष्ण, रूक्ष और लघु ये, भूमि, जल, अग्नि, वायु, आकाश के क्रमशः गुण हैं। द्रव्यात्मना का प्रयोजन पृथिव्यादि महाभूतों के गुणों से कर्म करना ही अभिप्राय है। वे गुण गुरु, लघु, मन्द, तीक्ष्ण, हिम, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष, श्लक्ष्ण, खर, सान्द्र, द्रव, मृदु, कठिन, स्थिर, सर, सूक्ष्म, स्थूल, विशद और पिच्छल ये पञ्च महाभूतों के संसर्ग से बीस प्रकार के होते हैं। स्निग्धादिकों से वायुको जीते, रूक्ष उष्णों से कफको और शीतों से पित्तको जीते।

कहीं रस से–जैसे–मधुर अम्ल लवण रस वायु को शमन करते है और कफ को बढाते हैं।

कहीं वीर्य से – वीर्य दो प्रकारका है। उष्ण और शीत। जैसे बृहत्पञ्चमूल का क्वाथ कषैला और तिक्तानुरस होने पर भी उष्णवीर्य होने से वायुका शमन करता है। गन्ने का रस मीठा होने पर भी शीत वीर्य होने से वायु का विवर्धन करता है। मकोय तिलरसवाली होते हुये भी उष्ण वीर्य होने से पित्त को बढाती है। कैथ का फल अम्ल होते हुये भी और शहद मधुर होते हुये भी रूक्षवीर्य होने से कफ को शमन करता है।

कहीं विपाक से कर्म होता है। विपाक तीन प्रकार का है। जैसे–– मधुर, अम्ल, और कटुक। मधुर विपाक से कफ उत्पन्न होता है। अम्ल से पित्त और कटुक से वायु होता है। द्रव्यों के परिणाम काल में होनेवाला जठराग्नि के सम्बन्ध से जो रस का रूपान्तर प्रकट होता है, उसको विपाक कहते हैं। जो कार्य द्वारा जाना जाता है। वह मधुर और लवण रसका मधुर होता है। अम्लका अम्ल, और कटु तिक्त कषाय का कटु विपाक होता है।

कहीं प्रभाव से। जैसे सहदेवी की जड़ शिर में बाँधने से तृतीय ज्वर हट जाता है। द्रोणपुष्पी का रस नेत्रों में डालनेसे चातुर्थिक ज्वर, नष्ट हो जाता है। इस प्रकार द्रव्य और उसके आश्रित रस, वीर्य, विपाक, प्रभाव, कहीं सब, कहीं अलग २ पालन, प्रकोपन, और शमन करते हैं॥ ३॥

सू०–मधुराम्ल लवण कटुतिक्त कषाया रसाः ॥ ४ ॥

प्र. टी.–मधुरादयः षड् रसाः क्रमशो यथा पूर्वं बलावहा बलकारका ज्ञेयाः । अत्र मधुरो रसः देहिनां प्रकर्षेण बलबर्धकः । कषायस्तु सर्वेभ्यो हीनबलकरः । एषु मधुरः स्वादुः घृतशर्करागुडादयो विज्ञेयाः । अम्लः मातुलुङ्गचिञ्चाफलादिः । लवणः पटुः सैन्धवादिः । कटुरुष्णः मरीच्यादिः । तिक्तः भूनिम्बादि । कषायः शल्लकी तिन्दुकहरीतक्यादिः ॥

त एते रसनेन्द्रियग्राह्यत्वाद्रसा विज्ञेयाः । खंवाय्वग्निजल भूमिषु यथा क्रममेकोत्तरवृद्धया शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः, तस्माज्जलगुणविशिष्टत्वादाप्य एव रसः । सचाप्योरसः शेषभूतगुणसंसर्गाद्विदग्धः षट् प्रकारो भवति । यथा मधुरोऽम्लो लवणः कटुकस्तिक्तकषाय इति । ते रसाः भूयः परस्पर संसर्गात् त्रिषष्टिधाभिद्यमाना अपि षट्त्वं नातिवर्तन्ते । तेषु षट्सु भूम्यम्बुगुण बाहुल्यान्मधुरः । भूम्यग्निगुण बाहुल्यादम्लः। जल दहन गुणबाहुल्याल्लवणः । वाय्वाग्निगुणबाहुल्यात्कटुकः । वाय्वाकाशगुणबाहुल्यात्तिक्तः । पृथिव्यनिल गुणवाहुल्यात्कषाय इति। केचित्तु द्विविधा रसा, अग्निषोमीयत्वाज्जगतः । तत्र सौम्याः मधुरतिक्तकषायाः । आग्नेयास्तु कट्वम्ललवणाः । सौम्याः शीताः । उष्णाश्चाग्नेयाः । मधुराम्ललवणाः स्निग्धाः गुरवश्च कटुतिक्त कषाया रूक्षा लघवश्च । एते रसाः स्वयोनिवर्धका अन्ययोनि प्रशामकाश्च। परञ्च षडेव रसाः, न न्यूनाधिकाः । द्विधातु वीर्यमेव तदेवाग्निसोमात्मकमिति ।५४॥

भा. टी.––मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त, और कषाय ये क्रमशः छ, रस यथापूर्व अर्थात् कषायसे तिक्त, तिक्त सेकटु, कटु से लवण, लवण से अम्ल

और अम्ल से मधुर उत्तरोत्तर बलवर्धक होते हैं। इन में कषाय सबसे हीन बल और मधुर सबसे अधिक बलवर्धक होता है। इन में मधुर, घी, शक्कर गुडादि पदार्थ होते हैं। सैन्धवादि लवण प्रधान होते हैं। बिजौरा निम्बु, इमली आदि अम्ल होते हैं। मिरच, पीपली, पिपल आदि कटु होते हैं। चिरायता, नीमादि तिक्त होते हैं। छल्ल, केन्दु, हरड़ें आदि कषाय रस प्रधान पदार्थ समझने चाहिये।

ये छः रस रसनेन्द्रिय द्वारा जाने जाते हैं, इस लिये इनको रस कहते हैं आकाश, वायु, अग्नि, जल, भूमि में एकोत्तर वृद्धि से, शब्द, स्पर्श, रूप, रस गन्ध ये गुण रहते हैं। इससे यह स्पष्ट जाना जाता है कि रस जलका ही विशेष गुण है। वह जलीय रस शेष पृथिव्यादि चार महा भूतों के संसर्ग से परिपाक या संसर्गज परिणति को प्राप्त होकर मधुर, अम्ल, लवण, कटुतिक्त, कषाय, इन छः भेदों वाला हो जाता है। वह रस फिर परस्पर सूक्ष्म संसर्ग से ६३ त्रेसठ (त्रिषष्टी) प्रकार का होते हुये भी छः प्रकार का माना जाता है। उन छहों में पृथ्वी और जल के गुणों की अधिकता से मधुर, भूमि व अग्नि गुण की अधिकता से अम्ल, जल और अग्नि की अधिकता से लवण, वायु अग्नि की अधिकता से कटु, वायु आकाश की अधिकता से तिक्त, भूमि और वायु की अधिकता से कषाय। इस प्रकार छः रस होते हैं। कोई दो प्रकार के ही रस मानते हैं। अग्नि सोमात्मक जगत् होने से। मधुर, तिक्त, कषाय, ये सौम्य तथा अम्ल, लवण, कटु ये आग्नेय रस होते हैं। सौम्य शीत और आग्नेय उष्ण होते हैं। मधुर, अम्ल, लवण चिकने और भारी होते हैं। कटु तिक्त, कषाय, रूक्ष और हल्के होते हैं। ये सब रस अपने समान योनि दोषादिकों को बढाते हैं। अन्य योनि को कम करते हैं। परन्तु रस छः ही हैं, न न्यून और न अधिक। दो प्रकार के वीर्य होते हैं, वे ही अग्न्यात्मक और सोमात्मक जगत् होने से। ये छः रस आग्नेय और सौम्य अथवा उष्ण और शीत कहे जाते हैं॥ ४॥

सू०—कटुतिक्तकषायाः वातं वर्द्धयन्त्यन्ये-घ्नन्ति प्रायः ॥ ५ ॥

प्र. टी.—कटुतिक्त कषायाः रसाः वातं वर्धयन्ति समानयोनित्वात् । मधुराम्ललवणाश्च वातं घ्नन्ति, विपरीतगुणकर्मस्वभावत्वात् प्रायो बाहुल्यादेवं भवति न सर्वत्रैव, यथा कषायोऽपि कुलत्थो वातं हन्ति उष्णवीर्यत्वात् । ये रसा वातशमनास्तेषु यदि रौक्ष्यलाघवशैत्यानिस्युस्तदा ते वातं न शमयन्ति, अपितु विपरीत योनिधर्माणउष्णस्निग्धादिगुणसंयुक्ताः मधुराम्ललवणाः वातं शयमन्तीति भावः ॥ ५ ॥

भा. टी.—कटु, तिक्त, कषाय, ये तीन रस वात के समान योनि होने से वायु को बढ़ाते हैं । और मधुर, अम्ल, लवण, ये तीन रस विपरीत गुणकर्म स्वभाववाले होने से वायु को नष्ट करते हैं । प्रायः सभी जगह यह नियम नहीं, जैसे कुलत्थ, कषाय रसवाला होते हुये भी उष्णवीर्य होने से वायुका शमन करता है । जो रस वायु का शमन करनेवाले हैं, यदि उनमें रुक्षता, लघुता और शीतता हो तो वे वायुका शमन नहीं करते । विपरीत योनि धर्मवाले उष्ण स्निग्धादि गुण संयुक्त, मधुर, अम्ल, लवण रस वायु को शमन करते हैं ।।५ ।।

सू०—अम्ललवणकटुकाः पित्तञ्च ॥ ६ ॥

प्र. टी.—अम्लवलण कटुकाः रसाः पित्तं वर्धयन्ति । समानगुणकर्मप्रभावत्वात् । तिक्त कषाय मधुराश्च शमयन्ति विपरीत गुणकर्म प्रभावत्वात् । अत्रापि बाहुल्यादेव यतः, तिक्ताकाकमाची पित्तं वर्द्धयति उष्णवीर्यत्वात् । यदि पितघ्न रसेषु तैक्ष्ण्यौष्ण्य लाघवानिस्युस्तदाते तिक्तकषाय मधुराः रसाः पितं न शमयन्तीति ॥ ६ ॥

भा. टी.—अम्ल, लवण, कटु, ये तीन रस पित्तके समानयोनि होने से पित्त को बढाते है। एवं तिक्त, कषाय, मधुर–विपरीत गुणकर्म प्रभाववाले होने से पित्त का शमन करते हैं। यहाँ भी प्रायः ही यह नियम समझना चाहिये। क्योंकि काकमांची तिक्त होते हुये भी उष्ण वीर्य होने से पित्त को बढाती है। जो रस पित्तशमन करनेवाले हैं, यदि उनमें तीक्ष्णता, उष्णता और लघुता ये गुण होंगे तो वे तिक्त, कषाय, मधुर रस पित्तको शमन नहीं करेंगे ॥ ६ ॥

सू०–श्लेष्माणश्च मधुराम्ललवणाः ॥ ७॥

प्र. टी.—मधुराम्ललवणाः रसाः श्लेष्माणमभिवर्द्धयन्ति, समानयोनित्वात् । कटु-तिक्तकषायाः, प्रशमयन्ति। विपरीत गुणकर्म प्रभावत्वात्। अत्रापि यदि तेषु स्नेह गौरव शैत्यानि स्युस्तदा ते श्लेष्माणं न प्रशमयन्ति। यथा कटुकं, मूलकं स्निग्धवीर्यत्वाच्छ्लेष्माणं वर्धयति। अम्लञ्च कपित्थं श्लेष्माणं शमयति रूक्षवीर्यत्वात् ॥ ६ ॥

भा. टी.—मधुर, अम्ल, लवण, ये तीन रस समानयोनि होने से कफ को बढाते हैं। कटु, तिक्त, कषाय, ये तीन रस विपरीत गुण कर्म स्वभाव वाले होने से कफ का शमन करते हैं। यहाँ भी यदि कफ नाशक रसों में स्नेह, गौरव, और शैत्य होगा तो वे कफका शमन नहीं करेंगे। जैसे- मूलक–(शलजम) चरपरा होते हुये भी स्निग्ध वीर्य होने से कफ की वृद्धि करता है। और कपित्थ-फल अम्ल होते हुये भी रूक्षवीर्य होने से कफ का शमन करता है ॥ ७ ॥

सू०–द्रव्यं प्रधानम् ॥ ८ ॥

प्र. टी.—द्रव्य, गुण, रस, वीर्य, विपाक, प्रभावेषु द्रव्यमेव प्रधानं यतः द्रव्याश्रिता एव रसादयः। द्रव्यं विहाय न केवलाः रसादय उपलभ्यन्ते। (१) व्यवस्थितत्वात् – द्रव्यमेव व्यवस्थितं, न रसादयः यथा आम्रफले आमें ये रसादयस्ते पक्वे न सन्ति। (२) स्वजात्यवस्थानाच्च—पार्थिवद्रव्यं नान्यभावं गच्छति।

(३) आरम्भ सामर्थ्याच्च--यथा निम्बमानय, हरीतक्यानय पर्पटमाहृत्य संक्षुद्यविपचेत् । (५) आगमाच्च--यथा दशमूल द्रव्याणि आदाय विपचेदित्यादिः ।।

यच्च नानौषधीभूतं जगति किञ्चित् द्रव्यमस्तीति, कृत्वा तं तं युक्तिविशेषमर्थं चाभि समीक्ष्य स्ववीर्यगुणयुक्तानि द्रव्याणि कार्मुकाणि भवन्ति । तानि यदा कुर्वन्ति सः कालः । यत्कुर्वन्ति तत्कर्म । येन कुर्वन्तितद्वीर्यम् । यत्रकुर्वन्ति तदधिकरणम् । यथा कुर्वन्ति स उपायः । यन्निष्पादयन्ति तत्फलम् ।। ८ ।।

भा. टी.--द्रव्य, गुण रस, वीर्य, विपाक, और प्रभाव में द्रव्य ही प्रधान है, क्योंकि गुण रस, वीर्य विपाक,प्रभाव द्रव्य के ही आश्रित हैं । द्रव्य को छोड़-कर केवल रसादिक कहीं अलग नहीं मिल सकते । (१) अवस्थित भी द्रव्य ही है--रसादिक नियत नहीं रहते । जैसे कच्चे फल में जो रसादिक हैं, वे पक्व में नहीं होते । (२) द्रव्य ही अपनी जाति में रहता है । पार्थिव द्रव्य कभी वायवीय या आकाशीय आदि नहीं बनता । (३) आरम्भ भी द्रव्य के ही अधीन है, जैसे निम्बलाओ, हरड़ लाओ, पितपापड़े को लाकर कूटकर पकावे इत्यादि क्रिया यें द्रव्य की ही होती हैं । शास्त्राज्ञा से भी द्रव्य ही प्रधान है । जैसे दशमूल के द्रव्य लाकर पकावे इत्यादि सब बातों से द्रव्य ही प्रधान है ।

जो भी इस संसार में स्थावर जंगमादि अनेक औषधि भूत द्रव्य हैं वे सब काम देनेवाले ही हैं, यह समझ कर जो २ द्रव्य जिस २ स्थान में जिस २ युक्ति विशेष से जिस अर्थ को करने वाला हो उसके उस २ युक्ति विशेष अर्थ को देखकर उन अपने वीर्यगुण युक्त द्रव्यों का उस विधि से प्रयोग किया जाय तो वे ठीक फल देनेवाले होते हैं ।

वे द्रव्य जब काम करते हैं, वह उनका काल है । जो कुछ करते हैं वह कर्म है । जिसके द्वारा करते हैं वह इनका वीर्य है । जहां करते हैं वह अधिकरण है । जैसे करते हैं वह उपाय है । जो उत्पन्न करते हैं वह फल कहा जाता है ।।८।।

सू०—स्थावरजङ्गमपार्थिवाणि च द्रव्याणि॥९॥

प्र. टी.——द्रव्याण्यौषधयस्तास्तु स्थावराः, जङ्गमाः, पार्थिवाश्च चकारात्कालकृताः। तासां वनस्पतयो वृक्षा वीरुध औषधयः स्थावराः। अपुष्पाः फलवन्तो वनस्पतयः प्लक्षोदुम्बरादयः, पुष्प फलवन्तोवृक्षाः आम्रादयः। प्रतानवत्यः स्तम्बिन्यश्च वीरुधः कोलवल्लयादि। फलपाकान्ते नष्टा औषधयः मुग्दकुलत्थादय इति॥

जङ्गमाश्चतुर्विधाः। जरायुजाण्डजस्वेदजोद्भिज्जाः। मनुष्यपशुव्यालादयो जरायुजाः। खगसर्पादयोऽण्डजाः। कृमियूकादयः स्वेदजाः। इन्द्रगोपादय उद्भिज्जाः।

पार्थिवाश्च सुवर्णरजतादयः, स्फटिकगैरिकशिलामृत्तिकादयश्च। अत्र सुवर्णे आग्नेयत्वेऽपि गुरुत्व, काठिन्य स्थैर्यादित्वात् वनस्पत्यादि स्थावर द्रव्येभ्यः पृथक्करणार्थञ्चोक्तम्। यद्यपि स्थिति शीलत्वात् स्थावर शब्देनैव पार्थिवा उच्यन्ते, परञ्चात्र आहारोपयोगिफलमूलाद्यवयवेषु रस प्रधानतया चतुर्विध वनस्पत्यादिगणे स्थावर शब्दोवर्तते। काष्ठौषधिभिन्न स्वर्णादिधातुपाषाणादीनामौषधिषु प्रतिपादनार्थं स्थावरेभ्यः पृथक् पार्थिवाश्चोक्ताः।

कालकृताः वातातपच्छाया ज्योत्स्नातमः शीतादयः॥९॥

भा. टी.——द्रव्य औषधियों को कहते हैं, वे स्थावर, जङ्गम, पार्थिव भेद से तीन प्रकार की हैं। च शब्द से कालकृत अर्थात् समयविभाग भी औषधि के समान चय, कोप, उपशम, करता है, इसको चौथा भेद माना है। इन में वनस्पति, वृक्ष, वीरुध, औषध, ये चार प्रकार से स्थावर द्रव्य हैं। (१) जिनमें विना पुष्पों के फल आते हैं उनको वनस्पति कहते हैं। जैसे पिलखन, गूलरादि। (२) जिनमें फूल और फल आते हैं उनको वृक्ष कहते हैं, जैसे आमादि।

(३) जो दूसरे के आश्रय फैलने वाली वल्ली विशेष हैं, इनको वीरुध या बेल कहते हैं। (४) जो फल के पकने पर या अपने परिपाक होने पर नष्ट होती है उनको औषधियाँ कहते हैं।

जंगम द्रव्य भी चार प्रकार के होते हैं, जैसे जरायुज, अण्डज, स्वेदज, उद्भिज्ज। (१) इनमें जेर से उत्पन्न होनेवाले जरायुज कहलाते हैं—जैसे मनुष्य पशुव्याघ्रादि। (२) अण्डे से उत्पन्न होने वाले अण्डज, जैसे, पक्षी और सर्पादि (३) पसीने से पैदा होनेवाले स्वेदज, जैसे यूका, लीख, मलज कृमि आदि। (४) जो प्रावृट् काल की वृष्टिद्वारा उत्पन्न होते हैं उनको उद्भिज्ज कहते हैं। जैसे वीर वहूठी, गंडोये आदि।

सोनां, चांदी, लोहा, आदि धातुएँ, स्फटिक, हीरा, आदि मणियाँ गेरू और मनःशिलादि द्रव्य पार्थिव कहे जाते हैं। यहाँ सुवर्ण को आग्नेय द्रव्य मानते हुये भी गुरुत्व, काठिन्य स्थैर्यादि युक्त होने से और चतुर्विध वनस्पति आदि स्थावर द्रव्यों से पृथक् दिखाने के लिये पार्थिव माना है। यद्यपि स्थिति-शील होने से, स्थावर शब्द से ही सब पार्थिव द्रव्य कहे जाते हैं, परन्तु आहार में काम आनेवाले फल, मूल, अवयवों में रस की प्रधानता होने से चार प्रकार के वनस्पति आदि गण में ही स्थावर शब्द वर्तमान हैं। तथा काष्ठौषधियों से पृथक् स्वर्णादि और धातुपाषाणादिकों का औषधियों में प्रतिपादन करने के लिये स्थावरों से पृथक् पार्थिव कहे हैं।।

वायु, धूप, छाया, चाँदनी, अंधकार, शीत, वर्षा, आदि कालकृत औषधियाँ मानी हैं॥ ९ ॥

सू०—चयकोपोपशमहेतवश्चैते ॥ १० ॥

प्र. टी.——एते औषधयः स्वभावत एव दोषाणां संचयप्रकोपोपशमहेतवः। च शब्दाच्चिकित्सोपकारिणश्चापि। दूष्यन्ति, काय-वाक्,—चित्तानीतिदोषा वातपित्तश्लेष्माणः। सञ्चयः वृद्धिः। कोपो व्याधितावस्था। उपशमः शान्तिरिति। चिकित्सोपयोगिन

अत्र कालकृता अपि चिकित्सोपयोगिनः, यथा—"प्रवाते निशिवासयेत्" "निवाते निचित्तं कृत्वा" आतपे परिशोषयेदित्यादि। चयकोपोपशमाः। यथा ग्रीष्मे वायुः संचीयते, प्रावृट्काले प्रकुप्यति, शरत्कालेस्वयमेवोपशाम्यति। पित्तं वर्षासुचीयते, शरदि कुप्यति, वसन्ते तु स्वयमेव शाम्यति। कफस्तु हेमन्ते चीयते, वसन्ते प्रकुप्यति, ग्रीष्मकाले चोपशाम्यति।

एवं समानाहारविहारैः संचयंप्रकोपञ्चापद्यन्ते।
विपरीताहारविहारैश्चोपशममापद्यन्ते ॥ १० ॥

भा. टी.—ये औषधियाँ स्वभाव से ही दोषों का संचय प्रकोप और उपशम करने वाली होती हैं। तथा चिकित्सा में काम देती हैं। अर्थात् यथोचित प्रयोग करने से रोग निवृत्तिकारक होती हैं।

शरीर वाणी और मन को दूषित करने वाले होने से दोष कहे जाते हैं। उनमें शरीर को दूषित करनेवाले, वात, पित्त, और कफ ये तीन दोष हैं। संचय वृद्धि को कहते हैं। प्रकोप रोगावस्था है। उपशम रोग शान्ति को कहते हैं। ये द्रव्य चिकित्सोपकारी चिकित्सा में कार्य करनेवाले हैं। यहाँ कालकृत वातादि भी चिकित्सोपयोगी हैं। "जैसे इन द्रव्यों से हवा में रातको सुवासित करे" "निर्वातस्थान में एकत्रित करे, धूप में सुखावे इत्यादि।

चय, प्रकोप, और उपशम का क्रम इस प्रकार समझना चाहिये। जैसे वायु का—ग्रीष्म में संचय, प्रावृट् में प्रकोप, और शरदऋतु में स्वयमेव उपशमन होता है।

पित्त—वर्षा ऋतुमें संचय, शरद् ऋतुमें प्रकोप, और वसन्त ऋतु में स्वयमेव उपशमन को प्राप्त होता है।

कफ—कफ हेमन्त में संचित, वसन्त में प्रकुपित, और प्रावृट् काल में स्वयमेव ही शमन हो जाता है।

इसी प्रकार स्वयोनिवर्धक आहार विहार से संचय प्रकोपको और विपरीत गुणकारी आहार विहार से उपशम को प्राप्त होते हैं।

सू०—सन्तर्पणापतर्पणाभ्यामुपक्रमः ॥११॥

प्र. टी.—दोषाणां वातादीनां, धातूनां रसादीनाञ्च क्षयो वृद्धिर्वारुजाकरः, व्याध्यवस्था इति प्रथमाध्याये प्रतिपादितम्। अत्रोच्यते क्षीणं दोषं, क्षीणं धातुं वा सन्तर्पणेन विवर्धनेन समतां नयेत् साम्यावस्थां प्रापयेत्। वृद्धं दोषं धातुंवा अपतर्पणेन ह्रासनेन उपक्रमेत् साम्यावस्थां प्रापयेदिति। सन्तर्पणपर्यायो बृंहणम्। अपतर्पणपर्यायो लंघनम्। "बृंहणं यद् बृहत्वाय लंघनं लाघवाय, यदिति ॥

अत्र क्षीणं वातं रूक्षैः विवर्धयेत्। क्षीणं पित्तं उष्णैः, क्षीणं कफं स्नेहाद्यै र्विवर्धयेत्। क्षीणं रसं रसैः दुग्धादिभिश्च विवर्धयेत्। रक्तं रक्तवर्धन द्रव्यैर्वर्धयेदित्यादि। अत्र क्रमः पूर्वोधातुः वृद्धः परं वर्धयति क्षीणः क्षपयतीति ॥

वृद्धं वातं स्नेहाद्यैः स्निग्धबस्तिभिश्च समं कुर्यात्। वृद्ध-पित्तं विरेचनेन शीतल द्रव्यैश्चोपक्रमेत्। वृद्धं कफं रूक्षोष्णैः वमनादिभिश्च जयेदिति। एवं वृद्धं रसं लंघनेन कर्षणद्रव्यैश्च। वृद्धं रक्तं रक्तमोक्षणेन कर्षण द्रव्यैश्चजयेदिति।

अपतर्पणं द्विधा। शोधनं शमनञ्च। तत्र शोधनं यद्दोषान् बहिर्नयेत्। यथा निरूहणं, वमनं, कायविरेचनं, शिरोविरेचनं, रक्तमोक्षणं, स्वेदनञ्च ॥ शमनन्तु शमीकरणम्। यच्च न निष्कासयति न चोदीरयति किन्तु स्वप्रमाणाद्धीनाधिकभावस्थितान् समीकरोति स्वप्रमाणस्थान् विदधाति तच्छमनम्।

सम्यग्लंघिते। -विमलेन्द्रियता, लाघवं, रुचिः, सम्यङमलादि विसर्गः, क्षुत्पिपासोदयः उत्साहश्च। सम्यग् बृंहिते बलं, पुष्टिः,

तत्साध्यामय संक्षयश्च। अतः नातिबृंहयेन्नाति ह्रासयेत् किन्तु साम्यावस्थां प्रापयेदिति भावः ।। ११ ।।

भा. टी.—वातादि दोषों और रस रक्तादि धातुओं का क्षय अथवा वृद्धि ही रोग होता है, यह प्रथमाध्याय में कह आये हैं। यहाँ कहते हैं, क्षीण दोष या धातुको सन्तर्पण अर्थात् बढ़ाने वाले द्रव्यों के उपयोग से बढ़ा कर साम्यावस्था में लावे। बढ़े हुये दोष धातुको अपतर्पण से कम करके साम्यावस्था में लावे। संतर्पण का दूसरा नाम बृंहण है, और अपतर्पण का दूसरा नाम लंघन हैं। वाग्भट कहते हैं—जो क्रिया बढाने के लिये की जाय उसको बृंहण कहते हैं, जो लघुता करने के लिये किया जाय उसको लंघन कहते हैं।

क्षीण वायु को रुक्ष क्रियाओं और रुक्ष द्रव्यों से बढ़ाना चाहिये। क्षीण पित्त का उष्ण क्रियाओं और उष्ण द्रव्यों से विवर्धन करना चाहिये। क्षीण कफ को स्निग्ध पदार्थों और आराम शयन आदि स्नेहन क्रियाओं से बढ़ाना चाहिये। क्षीण रसको अन्नादिकोंके रस, दूध, आदि का सेवन कर बढ़ावे क्षीण रक्तको रक्तवर्धक द्रव्यों और दूध आदि के सेवन से बढ़ाना चाहिये रसादि धातुओं में यह क्रम है कि रसके बढ़ाने से रक्तकी स्वयंवृद्धि होती है और रक्त से मांस की, मांस से मेद की, इत्यादि क्रम से सब धातुएँ पूर्व बढ़कर पर को स्वयं बढ़ाती हैं।

बढ़ी हुई वायु को स्निग्ध द्रव्यों से, और स्नेह वस्ति आदि से साम्यावस्थामें लावे। बढ़े हुये पित्त को विरेचन और शीतल द्रव्यों के उपयोग से जीते। बढ़े हुये कफ को रुक्षोष्ण पदार्थों और वमन द्वारा जीते। बढ़े हुये रसको लंघनों और रसों को कम करनेवाले द्रव्यों से जीते। बढे हुये रक्तको रक्तमोक्षण और रक्तको कम करनेवाले नीम चिरायता पापड़ा आदि से जीते।

अपतर्पण दो प्रकार का है। एक शोधन दूसरा शमन। उनमें जो दोषों को बाहर निकाले उसको शोधन कहते हैं, जैसे निरूहणकर्म, वमन, मलमूत्रका विरेचन, शिरोविरेचन, रक्त रक्तमोक्षण और स्वेदन। शमन शमीकरण को कहते हैं। जो द्रव्य अथवा क्रिया न तो बढ़े हुये दोषों को निकाले और न उदीर्ण करे किन्तु अपने प्रमाण से हीन या अधिक हुये दोषों को अपने अपने प्रमाण में स्थित करे, उसको शमन कहते हैं।

ठीक लंघन से इन्द्रियों की निर्मलता, शरीर में हल्का पन, अन्नादि पर रुचि, मलमूत्रादि का ठीक विसर्जन, क्षुधाप्यासका लगना, चित्त में उत्साह ये लक्षण होते हैं। ऐसे ही ठीक बृंहण से बलवृद्धि, शरीर की पुष्टि, और क्षीणता, से उत्पन्न हुये रोगों की शान्ति होती है।

इस लिये न अतिबृंहण करे, न अति कर्षण करे, किन्तु साम्यवस्था में स्थापन करे यह इस सूत्र का भाव है ।। ११ ।।

सू०—प्रावृट् शरद वसन्तेषु चोपहरेत्॥१२॥

प्र. टी.——ग्रैष्मिकं दोषचयं प्रावृषि स्नेहनपाचनस्निग्धविरेचनानुवासनैश्चोपहरेत्। वार्षिकदोषचयं शरदि पाचनादिभिः कोष्ठे समानीय रेचनादिभिर्निर्हरेत्। एवं हैमन्तिकं बसन्ते पाचनवमनादिभिः शिरोविरेचनेन च निर्हरेत्। अत्रदोषनिर्हरणात्प्राक् दोषं पाचयित्वा कोष्ठे समानीय निष्कासयेत्। कोष्ठस्तु वातेन क्रूरः, पित्तेन मृदुः, कफेन च मध्यः, तैः समैश्चापिमध्य एव भवति इति। अत्र दोषहरण विषये चरकः——"हैमन्तिकं दोषचयं वसन्ते प्रवाहयन् ग्रैष्मिकमभ्रकाले। धनात्यये वार्षिक माशुसम्यक् प्राप्नोति रोगानृतुजान्न जातु।,, ऋतुजनितसंञ्चयोद्भवरोगोत्पत्तेः प्रागेव दोषान्निर्हरेदिति भावः ।। १२ ।।

भा. टी.——ग्रीष्म ऋतु में जो दोष सञ्चय हुआ हो उसको प्रावृट् ऋतु में रोग उत्पन्न होने से प्रथम ही स्नेहन क्रिया और पाचन क्रिया करके स्निग्ध विरेचन और अनुवासन वस्ति द्वारा हरण करे। वर्षाकाल में हुये पित्त के संचय को प्रकोप होने से प्रथम ही शरद् ऋतु में पाचन कर जबदोष कोष्ठ में आजायें तो विरेचन द्वारा उनका निष्कासन करे। ऐसे ही हेमन्त में हुये कफ के सञ्चय को बसन्त ऋतु में, पाचन, वमन, शिरोविरेचनादि से निष्कासित करे। यहाँ दोषहरण के लिये वमन विरेचन से पहिले दोष को पचाकर कोष्ठ में ले आना चाहिये, फिर वमन विरेचन द्वारा निकालना चाहिये। कोष्ठ वायुसे

क्रूर होता है, (इसको स्नेहन पाचन द्वारा मृदुकर लेना चाहिये, फिर रेचन करे।) कफ से मध्य कोष्ठ, और पित्त से मृदु कोष्ठ होता है। दोषों की साम्यावस्था से भी मध्यकोष्ठ होता है। इस विषय में चरक कहते हैं—हेमन्त में इकट्ठे हुये दोषको वसन्त ऋतुमें, ग्रीष्म में संचित हुये को प्रावृट् काल में, और वर्षा काल के संचित को शरद् ऋतुमें हरण करना चाहिये। इससे ऋतुजन्य रोग उत्पन्न नहीं होते। इसलिये ऋतुजनित संचय से उत्पन्न होनेवाले रोगों के उत्पन्न होने से पहिले ही दोषों का हरण (निष्कासन) कर देना चाहिये ॥१२॥

सू०—चय एवाऽविरोधयन्वा ॥ १३ ॥

प्र. टी.—अथवा चये चयकाले एवोपचीयमानं पथ्याहारादिभिरुपक्रमेत्। यथा ग्रीष्मे कट्वम्ललवणानि वर्जयेत् लघु:स्निग्ध मधुराणि द्रव्याणि शीतं द्रवञ्च सेवेत, यथा प्रावृषिवातप्रकोपो न भेवदिति •। वर्षासु जीर्णधान्यमधुरलघुस्निग्धानिच द्रव्याणि शृतशीतजलञ्च सेवेत, यथा पित्तसंचयो न भवेत्, वातप्रकोपोऽपि न भवेत्। एवं हेमन्तेऽप्यविरोधयन् शुण्ठयादि संयुक्तानि द्रव्याण्युपसेवेत येन च प्रकोप एव न भवेदिति ॥ १३ ॥

भा. टी.—अथवा चयकाल में ही संचय होते हुये दोष को पथ्याहार विहार से शमन करे। जैसे ग्रीष्म ऋतु में कटु, अम्ल और लवण रस न खावे किन्तु लघु, स्निग्ध, और मधुर द्रव्यों का सेवन करे, तथा ठण्डे शर्बत और दूध आदि का सेवन करे जिससे प्रावृट् काल में वायु का प्रकोप न होने पावे। वर्षाऋतु में हल्के, पुराने अन्न, मधुर स्निग्ध हल्के आहार, उबालकर ठंडा किया जल सेवन करे, जिससे पित्तका संचय और प्रकोप न हो सके। ऐसे ही हेमन्त में सोंठ आदि से युक्त द्रव्य सेवन करे जिससे वसन्त में कफ का प्रकोप न होने पावे। ये सब क्रियायें अर्थात् दोष शमन, इस प्रकार करे जिससे एक को शमन करने से दूसरा दोष विकृत न हो जावे, और जिस प्रकार शमन विधिसे दोषों का प्रकोप भी न हो सके ॥ १३ ॥

सू०—संसर्गसन्निपातेषु च बलवत्तरम् ॥१४॥

प्र. टी.—संसर्गे द्विदोषचये, सन्निपाते त्रिदोषचयेच मिश्रितोपक्रमः सम्मिलित चिकित्सया उपक्रमेत। अथवा बलवत्तरं दोषं पूर्वं जयेत् । यथा वात कफ संसर्गे वातकफोपक्रमः । वातपित्त संसर्गे वातपित्तोपक्रमः । पित्तकफसंसर्गे पित्तकफोपक्रमः । एवं वातपित्ते ग्रैष्मिकोविधिः प्रयोज्यः । वातकफे वसन्तोक्तः । कफपित्ते शारदीयः । एवं संसर्गे सन्निपाते च, यद्बलवत्तरं, तं पूर्वमुपक्रमेत । द्वितीयाध्यायोक्तसन्निपातचिकित्सा संकेतेन वा ॥ १४ ॥

भा. टी.—जहाँ दो दोषों का एक काल में संचय प्रतीत हो, अथवा तीनों दोषों का संचय प्रतीत हो, तो मिले हुये आहार विहारों से शमन करे, अथवा जो अधिक बलवान् दोष हो उसको पहिले जीते । जैसे वातकफ संसर्ग में वातकफ का शमन करनेवाले आहार बिहार औषध योग से दोनों का शमन करे । वातपित संयोग में वातपित नाशक, और कफ पित के संसर्ग में कफ पित्तनाशक क्रिया करे । वातपित्ताधिक्य में ग्रीष्म ऋतु में होनेवाली ऋतुचर्या या उपशम विधिसे उपक्रम करे । वात कफ में वसन्त के समान और कफ पित्त में शरद् ऋतुके समान विधि से चिकित्सा करे । इसी प्रकार संसर्ग और सन्निपातमें जो दोष अधिक बलवान् हो उसको पहिले जीते, अथवा दूसरे अध्याय मेंजो सन्निपात की चिकित्सा का संकेत दिया है तदनुसार क्रिया करनी चाहिये ॥१४॥

सू०—तत्रस्थश्चागन्तुम् ॥ १५ ॥

प्र. टी.—आगन्तुं दोषं तत्रस्थमेवोपक्रमेत यथाचागन्तुको विकारः शरीरे न प्रसरेत्तथा तं पूर्वं तत्रस्थमेवजयेत् । यतः स्थानिको दोष आगन्तुक दोषेणाभिभूयते बलवत्तरत्वात् । स्थानिक दोषस्य विकारकरणे असमर्थत्वात्पूर्वं आगन्तुमेव शमयेदिति च• शब्दार्थः।

भा. टी.—आगन्तुक दोष को जिस स्थान पर उसका संसर्ग या संबन्ध हुआ हो, प्रथम ही उसी स्थान पर जीत ले, जिससे वह आगन्तुक विकार सम्पूर्ण

शरीर में प्रसरण न करने पावे। क्योंकि स्थानिक दोष आगन्तुक दोषसे दब जाता है। आगन्तुक दोष बलवान् होने के कारण स्थानिक अर्थात् निज दोष कुछ कर ही नहीं सकता। इसलिये पहले आगन्तुक का ही शमन करना चाहिये ॥१५॥

सू०–हितश्च सेवेत ॥ १६ ॥

प्र. टी.—सदैव सर्वं हितं सेवेत। हितसेवनाद्धि दीर्घायुष्यं, सुखं, यशश्च प्राप्नोति पुरुषः। यथाह-चरकः–

"नरोहिताहार विहारसेवी समीक्ष्यकारी विषयेष्वसक्तः
दाता समः सत्यपरः क्षमावानाप्तोपसेवीच भवत्यरोगः ॥
मतिर्वचः कर्म सुखानुबन्धि सत्वं विधेयं विशदाच बुद्धिः।
ज्ञानं तपस्तत्परता च योगे यस्यास्ति तं नानुपतन्ति रोगाः ॥
जितेन्द्रियं नानुपत्तन्ति रोगास्तत्काल युक्तं यदि नास्ति दैवम् ॥ १६

भा. टी.–सदैव सब प्रकार से हित सेवन करे। क्योंकि हित सेवन से ही मनुष्य दीर्घायु, सुख, और यश को प्राप्त करता है। जैसे चरकने कहा है– 'जो मनुष्य हितकारी आहार विहार का सेवन करता है, बुद्धिपूर्वक देख, विचार कर काम करता है, विषयों में प्रवृत्त नहीं है, समय पर पात्रको दान देता है, वैर विरोध न रखकर सब में समभाव रखता है, सत्य ही बोलता है, क्षमाशील स्वभाववाला है, प्रामाणिक भद्र पुरुषों की सेवा तथा आज्ञा पालन करनेवाला सदा स्वस्थ तथा नीरोग रहता है। जिस पुरुष के मति, वाणी और कर्म ये सब हित भावों में संलग्न हों, अपना मन वश में हो, विशुद्ध बुद्धि हो' तथा ज्ञान, तपस्या, और योग में चित्त हो ऐसे पुरुष को रोग कभी नहीं होते।, यदि कोई पूर्वजन्म का कर्म विघातक न हो तो जितेन्द्रिय पुरुष को रोग नहीं हो सकते ॥ १६ ॥

सू०–दैवपुरुषकारौ परस्परं जयतः ॥ १७ ॥

प्र. टी.—क्वचित्कृतेऽपि हितसेवनेऽनिष्टं दृश्यते, क्वचिच्चाहितसेवनादपीष्टं भवत्यत्र किं बीजमित्याशंक्य विविच्यते।

दैव पुरुषकारौ परस्परं जयतः, न्यूनाधिक्यात् । दुर्बलं दैवं बलवान पुरुषकारो जयति, एवं दुर्बलः पुरुषकारः बलवता दैवेनोपहन्यते । यदात्मकं पौर्वदैहिकं कर्म तद्दैवमित्याचक्ष्यते । यच्चेह क्रियते कर्म सहि पुरुषकारः । अत्रात्रेय :—

"कालस्य परिणामेन जरामृत्युनिमित्तजाः ।
रोगाः स्वाभाविका दृष्टाः स्वभावो निष्प्रतिक्रियः ।।
निर्दिष्टं दैवशब्देन, कर्म यत्पौर्व-देहिकम् ।
हेतुस्तदपि कालेन रोगाणामुपलभ्यते ।।
न हि कर्म महत्किञ्चित्फलं यस्यन भुज्यते ।
क्रियाघ्नाः कर्मजा रोगाः प्रशमं यान्ति तत्क्षणात् " ।।१७।।

भा. टी.—कहीं हित सेवन करते हुये भी रोग उत्पन्न होते देखे जाते हैं, और कहीं अहित सेवन करने पर भी सुखी प्रतीत होते हैं, इसमें क्या कारण है ? यह शंका कर विवेचना करते हैं । दैव और पुरुषकार न्यूनाधिक होने पर एक दूसरे को जीत लेते हैं । दुर्बल दैवको बलवान् पुरुषार्थ जीत लेता है और दुर्बल पुरुषार्थ बलवान् दैव द्वारा विनाश को प्राप्त होता है । जो पूर्व जन्म कृत कर्म हैं उसको दैव कहते हैं । और जो इस लोक में इस देह से कर्म किया जाता है उसको पुरुषार्थ कहते हैं । इसी विषय में भगवान् आत्रेय कहते हैं कि—काल के परिणाम से जो बुढ़ापे और मृत्यु के निमित्त भूत जो रोग होते हैं उनको स्वाभाविक रोग कहते हैं । ये बुढ़ापा आदि निष्प्रतिकार्य हैं, अर्थात् इनका होना तो एक दिन अवश्यम्भावी है । जो पौर्व दैहिक कर्म हैं, वे ही दैव, प्रारब्ध आदि शब्दों के द्वारा रोग उत्पन्न करने में कारण होते हैं । जगत् में कोई भी कर्म ऐसा नहीं जिसका कुछ फल न भोगा जाता हो । जो रोग कर्म जनित हैं वे सब क्रिया द्वारा उचित रूप से उपक्रमित होने पर (या विनाशकरने पर) शीघ्र ही शान्त हो जाते हैं ।। १७ ।।

।। इति तृतीयोऽध्यायः ।।

